प्रवेशांक

शब्द व्यंजना

www.shabdvyanjana.com

एक साहित्यिक पहल

वर्ष–१ अंक–१
मई–२०१४





नजरुल इस्लाम

मनुष्य से घृणा करके

कौन लोग कुरान, वेद, बाइबल

चूम रहे हैं बेतहाशा

किताबें और ग्रन्थ छीन लो

जबरन उनसे

मनुष्य को मार कर ग्रन्थ पूज रहा ढोंगियों का दल

सुनो मूर्खों, मनुष्य ही लाया है ग्रन्थ

ग्रन्थ नहीं लाया मनुष्य को |

शब्द व्यंजना

एक साहित्यिक पहल

वर्ष – ०१, अंक -०१

संपादन

बृजेश नीरज

अरुन शर्मा 'अनन्त'

तकनीकी संपादक

कौशल उप्रेती

संपर्क

बृजेश नीरज

(09838878270)

अरुन शर्मा 'अनन्त'

(09899797447)

कौशल उप्रेती

(09873971062)

ईमेल

contact@shabdvyanjana.com

editor@shabdvyanjana.com

रू-ब-रू





संकलन

यात्रा – वृत्तांत

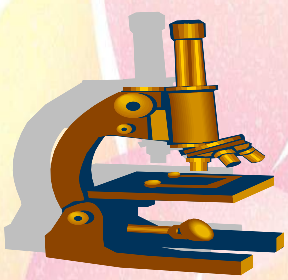




लेख

झरोखा





विज्ञान – दर्शन

पुस्तक समीक्षा



इस अंक में

जन्म तिथि पर विशेष

आलेख

रू-ब-रू

संकलन

यात्रा – वृत्तांत

लेख

झरोखा

विज्ञान दर्शन

समकालीन कविता की भूमिका

पुस्तक – समीक्षा

श्रद्धांजलि

कुछ अपनी बात

अगर पूछा जाए कि आज के समय की सबसे बड़ी समस्या क्या है तो एक आम आदमी (हालाँकि, यह शब्द भी अब राजनैतिक हो गया है लेकिन यहाँ इसका प्रयोग गैर-राजनैतिक सन्दर्भों में आम जन के लिए ही किया जा रहा है) क्या जवाब देगा? शायद, एक आम आदमी के लिए आज भी सबसे बड़ी समस्या रोटी, कपड़ा, मकान ही है! एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए यह त्रासदी और असफलता का ही विषय है कि आज़ादी के लगभग ६७ वर्ष गुजर जाने के बाद भी इस देश का आम नागरिक मूलभूत सुविधाओं के लिए संघर्षरत है.

यूँ तो किसी भी देश काल में आम आदमी के लिए जी लेने का संघर्ष सरल तो नहीं रहा होगा लेकिन वर्तमान दौर एक मायने में अधिक दुष्कर है कि आज संघर्ष संवेदना के स्तर तक पहुँच गया है. बाज़ार जनित संवेदन शून्यता ने जीवन को कठिन बनाया है, बिकाऊ बनाया है. भूमंडलीकरण के नव-उदारवादी मुखौटे ने जहाँ एक ओर प्रकृति और जीवन के दोहन की प्रवृत्तियों को मजबूत किया है वहीं संस्कृतियों को नष्ट कर अपसंस्कृति के लिए स्पेस क्रिएट किया है.

सामूहिकता नष्ट हो रही है. टुकड़ों में बंटा व्यक्ति बीच बाज़ार में खाली हाथ ठगा सा खड़ा है और बाज़ार उसके इस खालीपन को भी ग्लैमराइज कर उसकी कीमत लगाने को तैयार है. इस पूंजीवादी व्यवहार ने अपना गठजोड़ दिशाहीन और वैचारिक दिवालिएपन की राजनीति से कर रखा है जिसकी वजह से देश के लोकतंत्र में से लोक और तंत्र दोनों गायब हो गए हैं.

इस माहौल से पैदा हुई कडुवाहट और खीझ का असर समकालीन सृजन पर आसानी से देखा जा सकता है. साहित्य में इस जकड़न से निजात पाने की छटपटाहट स्पष्ट महसूस की जा सकती है. शब्द व्यंजना के इस प्रथम अंक में इस छटपटाहट के कुछ रूपों को स्थान देने का प्रयास किया गया है.

इस पत्रिका के माध्यम से हम समकालीन साहित्यिक परिदृश्य को जानने-समझने का प्रयास करेंगे. अपने इस प्रथम प्रयास को हमने बेहतर बनाने की भरपूर कोशिश की है. कुछ कमियाँ हो सकती हैं, जिन्हें आपके मार्गदर्शन में हम आगे सुधारने का प्रयास करेंगे. आपकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी.



शानी

१६ मई १९३३ को जगदलपुर, मध्य प्रदेश में जन्मे शानी का बचपन बेहद अभावों में बीता, शायद इसी लए उनकी लेखनी में वह तीखापन मौजूद था जिसने उनके लखे को सदा के लए अमर कर दिया.

जली हुई रस्सी

अपने बर्फ जैसे हाथों से वाहिद ने गर्दन से उलझा हुआ मफलर निकाला और साफिया की ओर फेंक दिया। पलक-भर वाहिद की ओर देखकर साफिया ने मफलर उठाया और उसे तह करती हुई धीमे स्वर में बोली, 'क्या मीलाद में गए थे?'

वाहिद ने बड़े ठंडे ढंग से स्वीकृतिसूचक सिर हिलाया और पास की खूँटी में कोट टाँग खिड़की के पास आया। खिड़की के बाहर अँधेरा था, केवल सन्नाटे की ठंडी साँय-साँय थी, जिसे लपेटे बर्फीली हवा बह रही थी। किंचित सिहरकर वाहिद ने खिड़की पर पल्ले लगा दिए और अपने बज उठते दाँतों को एक-दूसरे पर जमाते हुए बोला 'कितनी सर्दी है! जिस्म बर्फ हुआ जा रहा है, चूल्हे में आग है क्या?'

प्रश्न पर साफिया ने आश्चर्य से वाहिद की ओर देखा। बोली नहीं। चुपचाप खाट पर लेटे वाहिद के पास आई, बैठी और उसके कंधे पर हाथ रखकर स्नेह-सिक्त स्वर में बोली, 'मेरा बिस्तर गर्म है, वहाँ सो जाओ।'

वाहिद अपनी जगह लेटा रहा, कुछ बोला नहीं। थोड़ी देर के बाद उठकर पास ही पड़ी पोटली खींची, उसकी गाँठें खोली और कागज की पुड़िया रूमाल से अलग कर बोला, 'शीरनी है, लो खाओ।'

'रहने दो,' साफिया बोली 'सुबह खा लूँगी। क्या मीलाद में बहुत लोग थे? किसके यहाँ थी?'

'वकील साहब के यहाँ। एक तो ग्यारहवें शरीफ की मीलादें और दूसरे इतनी सर्दी।'

वाहिद ने रजाई गर्दन तक खींच ली। अनायास भर उठने वाली झुरझुरी से एक बार सिहर कर अपना जिस्म समेटा और एक कोने में हो रहा। बंद किवाड़ों को धक्का मारकर अँधेरे और शीत में ठिठुरती हवा लौट गई और किवाड़ों की दराज में सिमटकर हवा दोशीजा की नटखट छुअन की तरह गर्म रजाई में भी वाहिद को छूकर कँपा गई।

पास वाले मकान से एक शोर उठ रहा था, एक बड़ी मीठी चहल-पहल, जिसमें पुरुष-स्त्रियों के स्वर और हँसी-मजाक के फव्वारे, देगों की उठा-पटक बल्लियों और कफगीरों के टकराने और झनझनाने की आवाजों के साथ घुले-मिले थे।

सफिया ने कहा 'मुनीर साहब के यहाँ कल सुबह दावत है।' वाहिद ने सुन-भर लिया और आँखें बंद कर लीं।

मुनीर साहब वाहिद के घर के पास ही रहते थे। आज से कोई छह साल पहले मुनीर साहब यहाँ मुनीम थे, पर बाद में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और गल्ले का व्यापार शुरू कर दिया। किस्मत अच्छी थी, अतः दो साल के अंदर ही उन्होंने हजारों रुपए कमाए और अपना पुराना माटी का कच्चा मकान तुड़वाकर पक्का और बड़ा मकान बनवाया। उस दावत की चर्चा वाहिद पिछले कई दिनों से सफिया से सुन रहा था। मुनीर साहब की पत्नी ने जो, अक्सर वाहिद के यहाँ दोपहर में आ जाया करती थी, दो हफ्ते पहले ही अपने यहाँ होने वाली दावत की घोषणा कर दी थी। जब कभी सफिया से भेंट हुई, थोड़ी इधर-उधर की चर्चा के पश्चात बात ग्यारहवीं शरीफ के महीने, मीलादों और दावतों पर पलट आई और उसने बातों ही बातों में कई बार सुनाया कि उनके यहाँ की दावत में कितने मन का पुलाव, कितना जर्दा और कितने मन के बकरे कटने को हैं और इतने दिन पहले ही उनके रिश्तेदार चावल-दाल चुनने-बीनने और दूसरे कामों के लिए आ गए हैं। इस जरूरत से ज्यादा इंतजाम करने के लिए उन्होंने सफाई दी कि मीलाद, तीजा और किसी धार्मिक काम में चाहे लोग न आएँ, पर खाने की दावत हो, तो एक बुलाओ, चार आएँगे। जब मामूली दावतों का यह हाल होता है तो यह तो आम दावत है।

सफिया को बुरा लगा हो, ऐसी बात नहीं, पर उसने कभी कुछ नहीं कहा।

वही दावत कल होने जा रही थी।

बड़ी देर से छा गई चुप्पी को सहसा तोड़कर बड़े निराश स्वर में सफिया बोली 'मुनीर साहब की बीवी के पाँव तो जमीन पर ही नहीं पड़ते । इतनी उम्र हो गई फिर भी जेवरों से लदी पीली-उजली दुल्हन बनी फिरती हैं। भला बहू-बेटियों के सामने बुढ़ियों का सिंगार क्या अच्छा लगता है।'

वाहिद ने करवट बदली और एक लंबी साँस ले कर कहा 'जिसे खुदा ने इतना दिया है, वह क्यों न पहने? अपने-अपने नसीब हैं सफिया।'

सफिया को संतोष नहीं हुआ। थोड़ी देर चुप रहकर बड़े भरे हुए स्वर में बोली 'एक अपने नसीब हैं, खुदा जाने तुम्हारे मुकदमे का फैसला माटी मिला कब होगा!' और सफिया के भीतर से बड़ी लंबी और गहरी साँस निकली जो सीधे वाहिद के कलेजे में उतर गई।

वाहिद एक ढीला-ढाला, मँझोले कद का आदमी था। गरीबी और अभाव से उसका परिचय बचपन से ही था। बड़ी आर्थिक कठिनाइयों के बीच आठवीं की शिक्षा प्राप्त कर सका था। आठवीं के बाद किसी तरह कोशिश कर-कराके उसे फारेस्ट डिपार्टमेंट में फारेस्ट गार्ड की नौकरी मिल गई और आठ साल के भीतर ही वह डिप्टी रेंजर तक पहुँच गया। जंगल महकमे वालों को भला किस चीज की कमी। चार साल के अंदर ही वाहिद के नाम पोस्ट ऑफिस में डेढ़ हजार की रकम जमा हो गई जिसमें से सात सौ उसके ब्याह में खर्च हुए। पर सफिया का भाग्य शायद अच्छा नहीं था। पूरे दो साल भी सुख से नहीं रह पाई थी कि वाहिद को रिश्वत के आरोप में मुअत्तल कर दिया गया।

वाहिद ने बहुत हाथ-पाँव मारे। पोस्ट ऑफिस से तीन सौ और निकल गए। हेड क्लर्क की कई दावतें हुईं। रेंज आफिसर साहब (जिनके सर्किल में वाहिद आता था और जिन्होंने रिपोर्ट आगे बढ़ाई थी) के यहाँ उसने कई बार, मिठाई, फलों की टोकरियाँ और शहर के भारी-भरकम आदमियों से ढेर सारी सिफारिशें भिजवाईं और डी.एफ.ओ. साहब की बीवी के पास (हालाँकि उसके पहले एक बार भी वहाँ जाने का अवसर नहीं आया था) सफिया को दो-तीन बार भेजा, पर कुछ नहीं हुआ। केस पुलिस को दे दिया गया और वाहिद पर मुकदमा चलने लगा।

पहले कुछ महीने तो वाहिद को काफी सांत्वनाएँ मिलीं कि केस में कोई दम नहीं, खारिज हो जाएगा। यहाँ वाले ज्यादती और अन्याय करें पर ऊपर तो सबकी चिंता रखने वाला है और वाहिद के केस के साथ अकेले वाहिद का नहीं दो और जनों का भाग्य जुड़ा है। अगर वाहिद दोषी भी है, तो वे लोग तो निर्दोष हैं इत्यादि।

जब एक साल का अर्सा बीत जाने पर मुकदमा तय नहीं हुआ, पोस्ट आफिस से पूरे पैसे निकल गए और सफिया के जिस्म पर एक भी जेवर न रहा तो वाहिद की हिम्मत टूट गई और पहले जुम्मे के अलावा कभी भी मस्जिद की ओर रुख न करने वाला वाहिद अब पाँचों वक्त नवाज पढ़ने लगा।



लगभग दो साल के बाद फैसला हुआ और आशा के विपरीत, अच्छे से अच्छा वकील लगाने के बावजूद, वाहिद को साल भर की सजा हो गई।

वैसे तो अकस्मात टूट पड़ने वाली मुसीबत पहाड़ से कम न थी पर रिश्तेदारों और दोस्तों ने हाईकोर्ट में अपील करने का किसी-न-किसी तरह प्रबंध कर दिया और पूरे डेढ़ बरस से वाहिद हाईकोर्ट के फैसले का इंतजार कर रहा है, भले उस प्रतीक्षा में एक जून के खाने के बाद दूसरे जून की चिंता की हड़बड़ाहट, सफिया की शिकायतें, दिन-प्रतिदिन टूटता उसका स्वास्थ्य और उस दुर्दिन में माँ बनने की एहतियात, आवश्यक दवाई व देखभाल की सारी समस्याएँ शामिल थीं।

मुनीर साहब के यहाँ से देगों में भारी कफगीरों के फेरने-टकारने का स्वर गूँजा, बड़े जोर से छनन-छन्न की आवाज हुई और फिर घी में पड़े ढेर सारे मसालों की मीठी-सोंधी खुशबू फैल गई।

घी अब वाहिद के लिए ख्वाब है। जब तक लोअर कोर्ट से फैसला नहीं हुआ था, ऑफिस से मुअत्तली का एलाउंस मिल जाया करता था, उसका ही सहारा कम न था। पर अब कहीं का कोई आसरा नहीं। उन कड़वे दिनों को वाहिद और सफिया मिलकर झेल भी लें, लेकिन उस मासूम जान का क्या होगा, जो वाहिद के दुर्दिन में ही सफिया के भाग्य में आने को थी? प्राइवेट फंड की जो भी थोड़ी बहुत रकम जमा थी और वापस मिलने को थी, उसके जाने के बहुत पहले से रास्ते तैयार थे, अतः उसका क्या भरोसा? एक दिन झिझकती हुई सफिया बोली 'एक बात कहूँ?' पल भर के लिए वाहिद डर सा गया, पता नहीं सफिया कौन-सी बात कहेगी? तुरंत जवाब देते नहीं बना। क्षण भर उसकी तरफ देखता रहा फिर पास जाकर अपनी हथेलियों में उसका चेहरा ले बड़ी उदास आँखों से देखने लगा 'क्या कहती हो?'

सफिया बोली 'प्राइवेट फंड के पैसे मिलेंगे, तो घी ला दोगे? बहुत दिनों से अपने यहाँ पुलाव नहीं बना।'

वाहिद के भीतर जैसे किसी ने हाथ डालकर खँगाल दिया हो। अपने को किसी तरह पहले वह संयत कर धीरे से मुस्कराया, फिर जरा जोर से बनाई हुई हँसी हँसता हुआ बोला 'बस?'

सफिया संकोच से लाल होकर मुस्कराती हुई वाहिद के सीने में छिप गई।
वहाँ से हटकर जब वाहिद दूसरे कमरे में आ गया तो निढाल सा खाट में पड़ गया। भीतर से उफनती रुलाई का आवेग पलकों पर, ओठों पर बिछल रहा था। मुँह पोंछने के बहाने रुमाल से उसने आँखें पोंछीं और अपने लरज रहे ओंठ बाँहों में भींच लिए।
उस बात को भी तीन माह हो गए थे। सफिया ने एक-दो बार अप्रत्यक्ष रूप से पूछने की कोशिश की और चुप रह गई। उस रकम की वाहिद को आज भी प्रतीक्षा है।
वाहिद ने करवट बदली। मुनीर साहब के यहाँ का शोर थम गया था और इक्की-दुक्की आवाजें आ रही थीं। सफिया थककर सो गई थी।

सर्दी की सुबह वाहिद के लिए आठ से पहले नहीं होती। पर उस दिन देर से सोने पर भी आँख सुबह जल्दी खुल गई। वैसे काम होने या न होने पर भी वह चाय आदि से निपटकर नौ से पहले ही बाहर निकल जाता है लेकिन उस दिन उसकी चाय दस बजे हुई।
बाहर मुनीर साहब के यहाँ भीड़ इकट्ठी हो रही थी साइकिल और पाँवों की रौंद से उभड़-उभड़कर धूल का बादल फैल-बिखर रहा था और दिनों की तरह चाय देते हुए आज सफिया ने न तो राशन के समाप्त होने की बात कही और न पूछा कि आज वाहिद कहाँ से क्या प्रबंध करेगा। पिछली रात भी कुछ नही था। सुबह का बच रहा थोड़ा खाना वाहिद और सफिया ने मिलकर खा लिया था। रात की मीलाद की शीरनी नाश्ते का काम दे गई थी।
वाहिद ने पूछा 'क्यों, क्या मुनीर साहब के यहाँ से कोई आया था?'
सफिया ने थोड़ा झिझकते हुए जवाब दिया 'नहीं, हज्जाम आया था, आम दावत की खबर दे गया है।'
वाहिद ने और कुछ नहीं पूछा और बाहर निकल आया। मुनीर साहब के घर के सामने से लेकर दूसरे मोड़ तक लोगों का आना-जाना लगा था। रंगीन धारीदार तहमत लपेटे, सफेद और काली टोपियाँ लगाए, सिर में रूमाल बाँधे लोग, मुनीर साहब के घर की ओर बढ़ रहे थे। एकाएक सामने से रिजवी साहब दिखाई दिए। वाहिद उनसे कतराना चाहता था पर जब सामने पड़ ही गए, तो बरबस मुस्कराकर आदाब करना ही पड़ा। रिजवी साहब के साथ नौ से लेकर तीन साल तक के चार बच्चे चल रहे थे, जिनके सिर पर आढ़ी-टेढ़ी, गंदी और तेल में चीकट मुड़ी-मुड़ाई टोपियाँ थी।

रिजवी साहब ने मुस्कराकर पूछा 'क्यों भाई, मुनीर साहब के यहाँ से आए हो क्या?'

वाहिद ने झिझककर कहा 'जी नहीं।'

वाहिद से रिजवी साहब बोले 'तो फिर चलो न?'

वाहिद क्षण भर चुप रहा। फिर सँभलकर बोला 'आप चलिए, मैं अभी आया।'

रिजवी साहब आगे बढ़ गए।

कोई दो घंटों के बाद जब वाहिद लौटा, तो मुनीद साहब के घर के सामने से भीड़ छँट गई थी, पर महफिल अभी भी चल रही थी। कोई पूछे या न पूछे, स्वागत करे या न करे, लोग आते, सामने के नल पर हाथ धोते और बैठ जाते थे।

एक ओर से कंधे पर कपड़े से ढका तश्त लिए, चिंचोड़ी गई हड्डियों के गिर्द फैले ढेर सारे कुत्तों को हँकालती हमीदा की माँ निकली।

हमीदा की माँ पिछले पाँच वर्षों से मुनीर साहब के यहाँ नौकर थी। अक्सर तीज-त्यौहारों के अवसर पर मुनीर साहब के यहाँ से शीरनी लेकर हमीदा की माँ वाहिद के यहाँ आया करती थी। उससे बात करने की न तो वाहिद को ही कभी आवश्यकता पड़ी और न अवसर ही आया। फिर भी वाहिद ने आज रोककर पूछा 'हमीदा की माँ, क्या लिए जा रही हो?'

हमीदा की माँ ने पल्लू सँभालकर कहा 'खाना है भैया, सिटी साहब के यहाँ पहुँचाने जा रही हूँ।'

'भला वह क्यों?'

'अब पता नहीं, सिटी साहब आम दावत में आना पसंद करें, न करें, सो बेगम साहबा भिजवा रही हैं।'

और हमीदा की माँ आगे बढ़ने लगी, तभी एकाएक चौंककर, (जैसे कोई महत्वपूर्ण और विशेष बात छूटी जा रही हो) जरा आवाज ऊँची करके, रोकने के अंदाज में वाहिद ने पूछा, 'और कहाँ-कहाँ ले जाना है हामिद की माँ?'

हामिद की माँ ने थोड़ा रुककर कहा 'पता नहीं भैया! फिर भी इतना जानती हूँ, अभी मेरी जान को छुटकारा नहीं।'

वाहिद ओठों में ही मुस्कराया और मुनीर साहब के घर की ओर बढ़ा। सामने आँगन में दो-तीन बड़ी-बड़ी दरियाँ (जो संभवतः हर दावत में पहुँच-पहुँच कर गंदी हो चली थीं) बिछी हुई थीं, जिन पर साफ, नए कपड़े पहने कुछ बच्चे खेल रहे थे। पास के नल से क्षण-प्रतिक्षण बह रहे पानी से आँगन के आधे हिस्से में कीचड़ फैल चुका था। पास ही दो-तीन चारपाइयाँ डाल दी गई थीं। चारपाइयाँ शायद उन उम्मीदवारों के बैठने के लिए जो देर से आने के कारण चल रही पाँत समाप्त होने और दूसरी पाँत के प्रारंभ होने की प्रतीक्षा करते हैं। उन्ही लोगों में से क्या वाहिद भी है? वह बड़े फीके ढंग से मन-ही-मन हँसा। रस्सी भले ही जल गई हो, पर क्या उसका बल इतनी जल्दी निकल जाएगा।

थोड़ी देर वाहिद वहीं खड़ा रहा। वहाँ बैठने-बिठाने अथवा पूछने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं थी। लोग आते थे, जाते थे।

भीतर के कमरे से जहाँ खाना चल रहा था, बर्तनों की टकराहट के साथ पुलाव की महक साँसों के साथ वाहिद के फेंफड़ों में भर गई। मुँह भर आया, घूँट हलक के नीचे उतारकर वाहिद एक ओर खड़े दाँत खोदते औक थूकते दो-तीन दाढ़ी वाले बुजुर्गों के पास जा खड़ा हुआ। दाँत के अँतरों में फँस गए गोश्त के टुकड़ों को तीली से निकाल फेंकने की जी-तोड़ कोशिश करते हुए उन लोगों ने केवल वही सवाल किया, जिसका जवाब वाहिद पिछले डेढ़ बरस से प्रायः हर मिलने वाले को दिया करता था कि उसके केस का क्या हुआ, किस वकील को लगाया है, कितनी परेशानियाँ हो गई और अपील के फैसले को कितनी देर है? आदि।

वाहिद ने सैकड़ों बार कही बात एक बार फिर अपने अनमने ढंग से दोहरा दी। तबी दरवाजे के पास मुनीर साहब दिखाई दिए। इधर से ध्यान हटाकर वाहिद ने मुनीर साहब के चेहरे की तरफ अपनी आँखें जमा दी। पर लगातार कई मिनटों तक मुनीर साहब के चेहरे की तरफ देखते रहने पर भी उनका ध्यान वाहिद की तरफ नहीं लौटा और वह अपने किसी नौकर को हिदायतें देकर लौटने लगे, तो अपनी जगह से एकदम आगे आ, पुकारकर वाहिद ने कहा, 'मुनीर साहब, आदाब अर्ज है।'

मुनीर साहब जाते-जाते पल भर को रुके, आदाब लिया, वाहिद की ओर देखकर मुस्कराए और तेजी से भीतर चले गए।



एक दम पीछे अपनी जगह से लौटने से पूर्व वाहिद ने सुना, पास के दाढ़ी वाले सज्जन उसका नाम लेकर पुकार रहे थे। लौटकर देखा तो उन्होंने कहा 'वाहिद मियाँ, पान लीजिए।'

एक कम उम्र का लड़का वाहिद के आगे पान की तश्तरी बढ़ाए खड़ा था। क्षण भर रुककर वाहिद ने अपने इर्द-गिर्द देखा, सामने खड़े लड़के पर एक निगाह डाली, तश्तरी से एक पान उठाकर मुँह में रखा और लौट रहे लोगों के पीछे हो लिया।

घर पहुँचकर देखा, सफिया तकिए में मुँह डाले चुपचाप पड़ी थी। बावर्चीखाने की ओर निगाह गई, चूल्हा लिपा-पुता साफ था और धुले-मँजे बर्तन चमक रहे थे। वाहिद को देखकर सफिया उठ बैठी और अपनी ओर घूरकर देख रहे वाहिद की आँखों में केवल निमिष-भरे के लिए देखकर ठंडे स्वर में पूछा 'कितने लोग थे दावत में?

हामिद की माँ तो आई नहीं?'

वाहिद के जले पर जैसे किसी ने नमक छिड़क दिया हो। तिलमिलाकर तीखे स्वर में उसने कहा, 'हमीदा की माँ की ऐसी की तैसी! मैं ऐसी दावतों में नहीं जाता, यह जानकर भी तुम ऐसे सवाल करती हो? हमने क्या पुलाव नहीं खाया? जिसने न देखा हो वह सालों के यहाँ जाए!'

सआदत हसन मंटो दुनिया के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक थे . अपनी कहानियों के दम पर उन्होंने साहित्य में अपनी अनूठी जगह बना ली . जहाँ एक और उनकी कहानियों में विभाजन, दंगों और सांप्रदायिकता पर तीखे कटाक्ष देखने को मिलते हैं वहीँ दूसरी ओर मानवीय संवेदना के सूत्र भी कथानक में बिखरे होते हैं.



प्रस्तुत है उनकी पाँच लघु कहानियाँ -

घाटे का सौदा



दो दोस्तों ने मिलकर दस-बीस लड़कियों में से एक लड़की चुनी और बयालीस रुपए देकर उसे खरीद लिया। रात गुजारकर एक दोस्त ने उस लड़की से पूछा-"तुम्हारा नाम क्या है?"

लड़की ने अपना नाम बताया तो वह भिन्ना गया-"हमसे तो कहा गया था कि तुम दूसरे मजहब की हो..."

लड़की ने जवाब दिया- "उसने झूठ बोला था।"

यह सुनकर वह दौड़ा-दौड़ा अपने दोस्त के पास गया और कहने लगा- "उस हरामजादे ने हमारे साथ धोखा किया है...हमारे ही मजहब की लड़की थमा दी...चलो, वापस कर आएँ...।"

करामात



लूटा हुआ माल बरामद करने के लिए पुलिस ने छापे मारने शुरू किए।

लोग डर के मारे लूटा हुआ माल रात के अँधेरे में बाहर फेंकने लगे; कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अपना माल भी मौका पाकर अपने से अलहदा कर दिया, ताकि कानूनी गिरफ्त से बचे रहें।

एक आदमी को बहुत दिक्कत पेश आई। उसके पास शक्कर की दो बोरियाँ थीं जो उसने पंसारी की दुकान से लूटी थीं। एक तो वह जूँ-तूँ रात के अँधेरे में पास वाले कुएँ में फेंक आया, लेकिन जब दूसरी उसमें डालने लगा तो खुद भी साथ चला गया।

शोर सुनकर लोग इकट्ठे हो गए। कुएँ में रस्सियाँ डाली गईं। जवान नीचे उतरे और उस आदमी को बाहर निकाल लिया गया; लेकिन वह चंद घंटों के बाद मर गया।

दूसरे दिन जब लोगों ने इस्तेमाल के लिए कुएँ में से पानी निकाला तो वह मीठा था। उसी रात उस आदमी की कब्र पर दीए जल रहे थे।

बँटवारा

एक आदमी ने अपने लिए लकड़ी का एक बड़ा संदूक चुना। जब उसे उठाने लगा तो संदूक अपनी जगह से एक इंच न हिला।

एक शख्स ने, जिसे अपने मतलब की शायद कोई चीज मिल ही नहीं रही थी, संदूक उठाने की कोशिश करनेवाले से कहा- "मैं तुम्हारी मदद करूँ?"

संदूक उठाने की कोशिश करनेवाला मदद लेने पर राजी हो गया।



उस शख्स ने जिसे अपने मतलब की कोई चीज नहीं मिल रही थी, अपने मजबूत हाथों से संदूक को जुंबिश दी और संदूक उठाकर अपनी पीठ पर धर लिया। दूसरे ने सहारा दिया और दोनों बाहर निकले।

संदूक बहुत बोझिल था। उसके वजन के नीचे उठानेवाले की पीठ चटख रही थी और टाँगें दोहरी होती जा रही थीं; मगर इनाम की उम्मीद ने उस शारीरिक कष्ट के एहसास को आधा कर दिया था।

संदूक उठानेवाले के मुकाबले में संदूक को चुननेवाला बहुत कमजोर था। सारे रास्ते एक हाथ से संदूक को सिर्फ सहारा देकर वह उस पर अपना हक बनाए रखता रहा।

जब दोनों सुरक्षित जगह पर पहुँच गए तो संदूक को एक तरफ रखकर सारी मेहनत करनेवाले ने कहा-"बोलो, इस संदूक के माल में से मुझे कितना मिलेगा?"

संदूक पर पहली नजर डालनेवाले ने जवाब दिया-"एक चौथाई।"

"यह तो बहुत कम है।"

"कम बिल्कुल नहीं, ज्यादा है...इसलिए कि सबसे पहले मैंने ही इस माल पर हाथ डाला था।"

"ठीक है, लेकिन यहाँ तक इस कमरतोड़ बोझ को उठाके लाया कौन है?"

"अच्छा, आधे-आधे पर राजी होते हो?"

"ठीक है...खोलो संदूक।"

संदूक खोला गया तो उसमें से एक आदमी बाहर निकला। उसके हाथ में तलवार थी। उसने दोनों हिस्सेदारों को चार हिस्सों में बाँट दिया।

हैवानियत

मियाँ-बीवी बड़ी मुश्किल से घर का थोड़ा-सा सामान बचाने में कामयाब हो गए।

एक जवान लड़की थी, उसका पता न चला।

एक छोटी-सी बच्ची थी, उसको माँ ने अपने सीने के साथ चिमटाए रखा।

एक भूरी भैंस थी, उसको बलवाई हाँककर ले गए।

एक गाय थी, वह बच गई; मगर उसका बछड़ा न मिला।



मियाँ-बीवी, उनकी छोटी लड़की और गाय एक जगह छुपे हुए थे।
सख्त अँधेरी रात थी।
बच्ची ने डरकर रोना शुरू किया तो खामोश माहौल में जैसे कोई ढोल पीटने लगा।

माँ ने डरकर बच्ची के मुँह पर हाथ रख दिया कि दुश्मन सुन न ले। आवाज दब गई। सावधानी के तौर पर बाप ने बच्ची के ऊपर गाढ़े की मोटी चादर डाल दी।
थोड़ी दूर जाने के बाद दूर से किसी बछड़े की आवाज आई।
गाय के कान खड़े हो गए। वह उठी और पागलों की तरह दौड़ती हुई डकराने लगी। उसको चुप कराने की बहुत कोशिश की गई, मगर बेकार...
शोर सुनकर दुश्मन करीब आने लगा। मशालों की रोशनी दिखाई देने लगी।
बीवी ने अपने मियाँ से बड़े गुस्से के साथ कहा- "तुम क्यों इस हैवान को अपने साथ ले आए थे?"

साम्यवाद

वह अपने घर का तमाम जरूरी सामान एक ट्रक में लादकर दूसरे शहर जा रहा था कि रास्ते में लोगों ने उसे रोक लिया।



एक ने ट्रक के माल-असबाब पर लालच भरी नजर डालते हुए कहा- "देखो यार, किस मजे से इतना माल अकेला उड़ाए चला जा रहा है!"

असबाब के मालिक ने मुस्कराकर कहा- "जनाब, यह माल मेरा अपना है।"

दो-तीन आदमी हँसे- "हम सब जानते हैं।"

एक आदमी चिल्लाया- "लूट लो...यह अमीर आदमी है...ट्रक लेकर चोरियाँ करता है...!"



मनोज कुमार श्रीवास्तव

विचारशील लेखक के तौर पर ख्याति, गद्य एवं पद्य पर समान अधिकार, कविता के संसार से अलग, उनका गद्य विचार जगत की गहराईयों में जाता है, अपनी परंपरा से निरंतर संवाद करता इनका लेखन आधुनिकता के प्रचलित मुहावरों से भी जाता है.

प्रकाशित कृतियाँ : कविता संग्रह – मेरी डायरी से, यादों के सन्दर्भ, पशुपति, स्वरांकित और कुरान कवितायेँ, शिक्षा के सन्दर्भ और मूल्य, पंचशील वंदेमातरम्, यथाकाल और पहाड़ी कोरबा पर पुस्तकें प्रकाशित, सुन्दरकाण्ड के पुनर्पाठ पर छह खण्ड प्रकाशित, दुर्गा सप्तशती पर शक्ति प्रसंग पुस्तक प्रकाशित.

सम्प्रति : १९८७ संवर्ग से भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी

संपर्क : shrivastava_manoj@hotmail.com

प्रवासी हिन्दी साहित्य में जड़ें, परंपरा एवं देशभक्ति

क्या प्रवासी हिन्दी साहित्य पछतावे का साहित्य होकर ही जड़ों का या देशप्रेम का साहित्य हो सकता है? कि जिसके चरित्र पीछे मुड़कर देखने की प्रक्रिया में ही मुब्तिला हैं? कि उस साहित्य में बार-बार ऐसे चरित्र आते हैं जो अलग अलग परिस्थितियों से पहुँचते एक ही जगह हैं जहाँ वे अपने अभी तक जिए हुए की रिव्यू कर रहे होते हैं? अपने जीवन के अभी तक चले आए संस्करण की किसी न किसी बहाने से समीक्षा। इस समीक्षा में कहीं साहस होता है तो कहीं संकोच। लेकिन अधिकतर यह बहुत घटना-बहुल साहित्य नहीं है, यह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं का साहित्य है। कहीं पाले हुए भरम टूटते हैं तो कहीं कुछ नए भरम बनते हैं। कहीं निराशा है तो कहीं घिन। भीतर ही भीतर इन कहानियों और कविताओं में एक प्रतिरोध सा पकता रहता है। प्रवासी होना एक लगातार



कायांतरण में, एक perpetual metamorphosis में रहना है। खासकर तब जब साहित्यकार होने के नाते आपके संवेदन-तंतु कुछ ज्यादा ही जागृत हों। यह देखकर आश्चर्य होता है कि जिन लोगों को हिन्दुस्तान का आम आदमी स्थापित (Well settled) मानता है, उनका साहित्य स्वयं में स्थैर्य (stability) का साहित्य कतई नहीं है।

> प्रवासी हिन्दी लेखकों की त्रासदी यह नहीं है कि वे विदेशी धरती पर पैर रखकर लिख रहे हैं, त्रासदी यह है कि जब इतने बरसों बाद वे भारत भूमि पर पैर रखते हैं तो वहाँ कुछ विदेशी-सा हो गया है

प्रवासी हिंदी लेखक एक तरह की दोहरी जिम्मेदारी (dual accountability) में रहता है। वह कहीं भी यात्री नहीं है। यात्रा उसमें दिखेगी भी तो वैसे, जैसे उषाराजे सक्सेना के कथासंग्रह 'प्रवास में' की तरह-या इसी संग्रह की कहानी 'यात्रा में' की तरह। यात्री होना तो दायित्व-मुक्ति है। प्रवासी होना दायित्व का दुगुना होना है। यात्री को सुविधा है कि वह 'अज्ञात भूमि' (terra incognita) के बारे में लिख सकता है। प्रवासी की मुश्किल है कि वह यात्री नहीं है, वासी है, हालांकि एक खास तरीके का वासी है जिसके चलते 'प्र' उपसर्ग अपने तरह से सार्थक होता है इसलिए प्रवासी लेखक की दृष्टि पर्यटक-निगाह नहीं है। यात्री की तरह प्रवासी भी सरहदें पार करता है, लेकिन उसके साथ-साथ वह अपने एन्क्लोजर भी तैयार करता चलता है। मैंने यात्री-साहित्य भी पढ़ा है और प्रवासी-साहित्य भी। लेकिन कम से कम हिन्दी की इन दोनों धाराओं को देखूँ तो मुझे लगता है कि प्रवासी-साहित्य में कहीं भी उतना आत्म-आश्वस्ति (Self-assurance) का भाव नहीं है जो यात्री-साहित्य में है। प्रवासी साहित्य का अंतर्द्वन्द्व ट्रांसप्लांटेड का अंतर्द्वन्द्व है। मुझे यह भी लगता है कि आत्म-आश्वस्ति की इस कमी के कारण प्रवासी-साहित्य में ज्यादा मार्मिकता आ पाई है, वह ज्यादा अन्तःस्पर्शी बन पाया है।



मुझे ज्ञात हुआ कि हंस के सम्पादक राजेन्द्र यादव जी ने जामिया मिलिया विश्वविद्यालय के एक कार्यक्रम में कह दिया कि "तेजेन्द्र भाई को शायद बुरा लगे, अभी जो प्रवासी साहित्य के नाम पर परोसा जा रहा है, उसका स्तर कुछ खास नहीं है। भारत में रचे जा रहे साहित्य के सामने प्रवासी साहित्य का कोई कद उभर कर नहीं आता।" मैं नहीं जानता कि राजेन्द्र यादव जी ने यह इम्प्रेशन कैसे संचित किया। मैं तेजेन्द्र जी द्वारा दी गई उस प्रतिक्रिया से भी बहुत सहमत नहीं हूँ कि "मैं प्रवासी साहित्य जैसे आरक्षण कोटे को मानता ही नहीं। मुझे तमाम आरक्षित साहित्य से एलर्जी है।

मैं साहित्य को महिला लेखन, दलित लेखन, सवर्ण लेखन, प्रगतिवादी लेखन आदि-आदि में बाँटने के सख्त खिलाफ हूँ। अब एक नया आरक्षण- प्रवासी साहित्य। क्या है यह प्रवासी साहित्य।'' मैं राजेन्द्र-तेजेन्द्र दोनों के तर्कों से आश्वस्त नहीं हो पाता। तेजेन्द्र जी जब इस तरह के वर्गों का विरोध करते हैं तो वे शायद संवेदना के उन विशिष्ट कोणों में निहित सृजनात्मकता की संभावनाओं को वैसे ही एप्रीशिएट नहीं कर पाते, जैसे राजेंद्र जी प्रवासी लेखन की उपलब्धियों को नहीं कर पाते। यही विनम्र असहमति मेरी डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय के उस कथन से है जो उन्होंने साहित्य अकादमी के सभागार में अमेरिका के हिंदी कथाकारों के संग्रह 'कथांतर' को लोकार्पित करते हुए कहे कि 'एक अच्छी रचना मुख्यतः मनुष्यता के किसी आयाम की अभिव्यक्ति होती है। उसे वर्गों/खानों/विमर्शों में बाँटना उचित नहीं।' हिन्दी का कुछ सर्वश्रेष्ठ जो है वह प्रवासी परिस्थितियों में ही लिखा गया। क्या राजेंद्र जी को निर्मल वर्मा की 'चीड़ों पर चाँदनी', 'हर बारिश में', 'धुंध से उठी धुन' और 'वे दिन' कृतियों की याद है? उन्हें लिखते वक्त निर्मल वर्मा प्राग में प्रवासी थे। निर्मल दस साल प्राग में रहे थे। नयी कहानी राजेंद्र यादव की जितनी ऋणी है, उससे कम ऋणी निर्मल वर्मा की नहीं है। निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', 'जलती साड़ी', 'लंदन की रात', 'पिछली गर्मियों में' उनके प्रवासी भारतीय होने के वक्त की रचनाएँ हैं।



संवेदनाओं की जितनी बारीक पर्त पर निर्मल जी ने काम किया, वह हिंदी को प्रवासी संवेद्यता की एक अद्भुत देन है। यदि फणीश्वरनाथ रेणु हिन्दुस्तान की जमी-रमी हुई जड़ों के महान कृतिकार थे तो निर्मल वर्मा जड़ों से उखड़ जाने के उतने ही महान रचनाकार। प्रवासी पर्सपेक्टिव का हिंदी साहित्य में महत्व कम करके राजेंद्र यादव यदि अपने स्मृति-भ्रंश का परिचय देते हैं तो उस पर्सपेक्टिव को एक सामान्यीकरण में गुम करके तेजेन्द्र भी न्याय नहीं कर रहे। आखिरकार जड़ का जीवन में जितना महत्व है, उससे कम महत्व सेतु का नहीं है। यह आश्चर्य नहीं कि प्रवासी रचनाओं के अनिल जोशी कृत एक संग्रह का नाम ''धरती एक पुल'' ही है। प्रवासी साहित्य ने हिंदी में मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक डबलनेस का जो अनुभव दिया है, एक ही समय होमसिकनेस और एस्केप का-वह हमारी भाषा की एक बड़ी रचनात्मक पूंजी है। तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'पासपोर्ट का रंग'' के दो रंग इसी डबलनेस के प्रतिनिधि हैं। फणीश्वरनाथ रेणु 'लोकेशन' के रचनाकार थे, निर्मल वर्मा 'रिलोकेशन' के। मुझे आश्चर्य है कि कमल किशोर गोयनका ''हिन्दी का प्रवासी साहित्य' इस शीर्षक से लिखे अपने बहुत लम्बे निबंध में निर्मल वर्मा का कोई जिक्र तक नहीं करते। हाँ, यह अवश्य है कि निर्मल वर्मा यूलीसस की तरह थे जो दुनिया भर में प्रवास कर लेने के बाद घर लौट आए थे। लेकिन गोयनका जी पं. तोताराम का तो उल्लेख करते हैं जो फिजी में 21 वर्ष रहकर लौट आए थे। आज के बहुत से प्रवासी हिंदी साहित्यकार रिनैसां युग के आदर्श पैट्रार्क की तरह हैं जो कभी घर नहीं लौटा। निर्वासित ही रहा। निर्मल का 10 साल का चेक-प्रवास जिन आँखों से उन्होंने देखा; कभी-कभी मेरा मन होता है, उन्हीं आँखों से भगवान राम का 14 साल का प्रवास कहीं देखा जा सकता। वह भी एक निर्वासन था।

हमारी संस्कृति के ताने-बाने रचने वाले दोनों ग्रंथ: रामायण और महाभारतः दोनों ही मगपसम को, निर्वासन को थीम बनाकर चलते हैं। दोनों ही निर्वासन के घाव से उसी तरह रक्तरंजित हैं जैसे हमारे बहुत से प्रवासी साहित्यकार; और यह भी देखिए कि गोयनका जी के इतने भारी-भरकम लेख में कृष्ण बलदेव वैद जैसा विद्रोही प्रवासी साहित्यकार भी सिरे से गायब है। वे ब्रांडीज़ विश्वविद्यालय और स्टेट यूनिवर्सिटी आफ न्यूयार्क में इतने सालों से पढ़ा रहे थे। 40 के करीब किताबें लिख चुके थे- उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, निबंध, डायरियाँ। 'एक नौकरानी की डायरी', 'हमारी बुढ़िया', 'मायालोक', 'काल कोलाज़', 'लापता', 'वह और मैं', 'उसके बयान', 'बदचलन बीबियों का द्वीप', 'भूख आग है', 'बीच का दरवाजा', 'गुजरा हुआ जमाना', 'मोनालिसा की मुस्कान', 'शिकस्त की आवाज' जैसी अद्भुत कृतियों से भरपूर उनका 50 साल का बहुत मौलिक, बहुत निडर और विद्रोही (defiant and insurrectionist) साहित्य रिश्तों की निर्दयता, हिंसा, पिशुनता और टुच्चेपन को इतनी बारीकी से चीन्हता है। विजय चौहान जिन्होंने 'धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे', 'एक बुतशिक़न का जन्म', 'अफसर की बेटी' जैसी अद्भुत कहानियाँ दीं- उन्हें हिन्दी में किस तरह से कमतर माना जा सकता है?

प्रवासी होने से अनुभूतियों की उद्दामता और गांभीर्य में कोई गिरावट नहीं होती। भाषिक तैयारी पर भी कोई असर नहीं पड़ता। क्या टॉमस मॉन स्वयं 1933 के बाद से 1955 तक स्वयं एक प्रवासी साहित्यकार नहीं था? क्या बर्तोल्त ब्रेख्त, हेनरिक मान, हर्मेन ब्रोच, एमिल लुडविग, ब्रूनो फ्रैंक का साहित्य उनके प्रवासी मानस का प्रतिबिंब नहीं है और क्या ऐसा होने से उसका साहित्यिक मूल्य वैसे कमतर हो गया जैसे राजेन्द्र यादव कहते हैं? क्या अब्राहम काहन का प्रसिद्व उपन्यास 'द राइज आफ डेविड लेविंस्की' एक प्रवासी की ही कथा नहीं है। और क्या वहाँ भी नायक भौतिक रूप से अत्यन्त सफल होकर भी यह नहीं महसूस करता कि उसकी सफलता की कीमत उसकी आत्मा का फोरफीचर है- वह आत्मा जो घर की लोक-परपराओं में उससे कहीं ज्यादा जड़ें जमा चुकी थी जितना वह सोचता था। मिशेल गोल्ड का 'ज्यूस विदाउट मनी', लोर सेगल का 'हर फर्स्ट अमेरिकम', आई.बी.सिंगर का 'शैडोज ऑन द हडसन', मारियो पूजो का 'द फार्चुनेट पिल्ग्रिम', ओ.ई. रोल्वाग का 'जाइंट्स इन द अर्थ', विला कैथर की 'माई एंटोनिया' जैसे उपन्यास प्रवासी अनुभव के मास्टर पीस रहे हैं। इनमें रचनाकारों को अपनी भाषा के देशज प्रांतर से निकलकर एक आंग्ल माहौल में जाना पड़ा किंतु उससे रचना की गुणवत्ता दुष्प्रभावित नहीं हुई। इसलिए यदि आज कुछ प्रवासी रचनाएँ भर्ती की लगती हैं तो यह भी समझना होगा कि वे उसी प्रकार प्रवासी साहित्य की प्रतिनिधि नहीं है जैसे गुलशन नंदा देशी हिंदी साहित्य के प्रतिनिधि नहीं थे।

जर्मनी में एक शब्द था इलेंड जिसका मूलार्थ थाः विदेशी भूमि। बाद में उसका अर्थ बिगड़ते-बिगड़ते तकलीफ (misery) हो गया। बहुत-सा प्रवासी साहित्य इसी तकलीफ का साहित्य है। यह तकलीफ जरूरी नहीं कि जिस देश में प्रवासी रहता है, उसके प्रति आभार का अहसास न करने वाली तकलीफ हो। यह तकलीफ वैसी भी हो सकती है जैसी कनाडा के प्रवासी हिंदी लेखक सुमन कुमार घई की कहानी 'लाश' में है जहाँ प्रवासी माँ-बाप अपने बच्चों पर ऐसी बंदिशें लगा देते हैं जो कि स्वयं उन्होंने स्वदेश में नहीं झेली थीं। घर प्रवासी रचना में एक तरह की परिचितता और सुरक्षा, एक तरह के शरण्य और स्मृति, एक परंपरा और सुविधा, एक लोकस और एक धुरी की तरह आता है। जैसा कि अबूधाबी के प्रवासी लेखक कृष्णबिहारी अपनी कहानी 'इंतजार' में कहते हैं- 'तब दुनिया कितनी मीठी हुआ करती थी।' या कल्पना सिंह चिटनिस अपनी कविता में लिखती हैं- 'उनकी स्मृतियों में हैं......./उनका घर/और घर के पिछवाड़े खिला अकेला फूल/उनकी स्मृतियों में है और/उनके संवाद, कहकहे और मीठी धूप' या मार्तिन हरिदन्त लछमन कहते हैं- 'कई देशों के मौसम का/स्वाद लेकर/पूरी पृथ्वी के ऊपर/मेरी यात्रा की वापसी होती है। एक चिड़िया की तरह/वृक्ष की टहनी पर/संध्या बेला में।'

प्रवासी साहित्य की अधिकतर रचनाएँ कभी वर्तमान और कभी विगत के बीच इतनी जल्दी-जल्दी शिफ्ट करती हैं कि वे कई बार कहानी से ज्यादा कहानीकार की अंतर्कथा बताती चलती हैं। एक ऐसे रचनाकार की जो रहता कहीं है और जिसे याद कहीं और का यथार्थ आता रहता है। जैसे उसके दिल के भीतर एक टेक्स्ट के अंदर एक दूसरा टेक्स्ट बन रहा है। कभी-कभी भीतर का या कहें कि केन्द्रीय टेक्स्ट बाहर के या परिधि के टेक्स्ट को काटता है। थोड़ा उथला हुआ तो फहीम अख्तर की कहानी 'कुत्ते की मौत' की तरह, गहरा हुआ तो दिव्या माथुर की 'फिक्र' जैसा। दरअसल दिव्या जी की रचनाओं में मैंने शुद्ध पाश्चात्य का निरादर कहीं नहीं देखा। वहाँ 'खल' वह है जो अपनी स्मृति और संस्कार से अपभ्रष्ट हो गया है। जैसे उषा राजे सक्सेना की कहानी 'एलोरा' का भारतीय पिता। विदेशी चरित्र इनमें जबरन ही खलनायक नहीं बना दिए जाते। मसलन, उषा राजे की ही 'डैडी' कहानी का फैंरक। वह अपने प्रति पाठक के मन में सम्मान जगाता है। यही परिपक्वता शैल अग्रवाल की कहानी 'दीये की लौ' में दिखाई पड़ती है, या उषा राजे सक्सेना की कहानी 'वाकिंग पार्टनर' में। उषा वर्मा की कहानी 'कारावास' की सैली भी एक ऐसा ही चरित्र है जिसके प्रति कृतज्ञ हुआ जा सकता है। सांस्कृतिक अपभ्रष्टों की बात दूसरी है। उनके लिए दिव्या माथुर की रचनाओं में एक उचित कड़वाहट भी है, जैसे 'बचाव' कहानी में। इसका मतलब यह नहीं कि प्रवासी रचनाकार कड़वाहट और कृतज्ञता के बीच ही घूमता है। दिव्या माथुर को ही देखें। वे मजे लेने के लिए भी कहानी लिख मारती हैं, जैसे 'सौ सुनार की' जिसमें मुहावरों-कहावतों का जैसे एक बम्बार्डमेंट है, जैसे एक अनरिकवरेबल स्वदेश को किसी और तरीके से नहीं तो ऐसे ही पा लिया जाए। मुहावरों-कहावतों को दुहराकर एक मिसिंग लोक को रिट्रीव करने की कोशिश की जा रही है। कुछ तो है जो बाकी सारी चीजों, साजो-सामान, लकदक और विनोद के बीच अप्रतिदेय (irredeemable) हो गया है। उनकी 'उत्तरजीविता' नामक कहानी एक मरी हुई चुहिया पर है जिसे पढ़कर मुझे अज्ञेय की 'धैर्य-धन गदहे' पर लिखी कविता याद हो आई। प्रयोगवादी सौंदर्यबोध की दृष्टि से जैसे वह कविता एक स्थान रखती है, उसी तरह से प्रवासी के मन में किसी कहावत की तरह शेष रह गए लोक-विश्वास पर लिखी इस कहानी का भी एक अपना ही वजूद है।

प्रवासी साहित्य हमेशा ही प्रवास से मोह-बाधाग्रस्त (आब्सेस्ड) साहित्य नहीं है। कई बार प्रवासी परिवेश वहाँ संदर्भ तक के लिए भी उपलब्ध नहीं है। उदाहरण के लिए उषा प्रियंवदा की 'वापसी' या सौमित्र सक्सेना की 'लड़ैती' जैसी कहानियाँ भारत के किसी भी हिस्से की कहानियाँ हो सकती हैं। भारत इन रचनाओं में कई बार बिना किसी तुलनात्मक तर्क के, एकदम स्वायत्त रूप से भी मौजूद है। भारत की स्मृति या पुनर्रचना प्रवासी साहित्यकार के मन को एक तरह के नैरंतर्य का आश्वासन उस वक्त देती है, जब उसके भीतर कुछ टूट गया है। ये उसके भीतर तब यौगिकता या 'बांडिंग' पैदा करती हैं जब वह कुछ तोड़ आया है। यह तोड़ आने के बाद बहुत लंबा वक्त गुजरने का इंतजार भी नहीं है क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक समय है। पूर्णिमा वर्मन की



कहानी 'जड़ों से उखड़े' में भारत से आए हुए कुछ घंटे ही हुए हैं इसलिए नास्टल्जिया इन रचनाओं में एक तरह की सांस्कृतिक वस्तु (कल्चरल कमोडिटी) बनकर आता है। वैसे भी नास्टल्जिया का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'यर्निंग फॉर यस्टर्डे' नहीं है, बल्कि घर वापसी की लालसा है। नास्टल्जिया शब्द जिन दो शब्दों से मिलकर बना है उसमें दवेजवे का अर्थ है घर वापसी और nostos का अर्थ है तृष्णा। अतः यह शब्द समय से उतना सम्बद्ध नहीं है, जितना स्थान से। शायद इसीलिए प्रवासी साहित्य में भारत हमेशा एक ऐसे स्थान की तरह रहता है जो जितना प्राप्त था, उतना प्राप्य है। प्रवासी मानस अतीतजीवी नहीं है, भारतजीवी है। अतीत तक लौटना असंभव है, लेकिन भारत लौटना हमेशा मुमकिन है। इसीलिए सुधा ओम ढींगरा अपने गीत में कहती हैं- 'साजन/मोरे नैना भर भर आवे हैं/देस की याद में छलक छलक जावे हैं'। कृष्ण बिहारी की कहानी 'इंतजार' में भी एक वापसी है। यह बात जरूर है कि भारत स्वयं प्रवासी के लिए एक भिन्न समय है। समय उसके बचपन का। समय उसके पुरखों का। भारत उसके लिए किसी स्थान तक पहुँचना नहीं है। वह उसके लिए एक टाइम मशीन में बैठना भी है और काल के प्रति लेखक की सम्पूर्ण असहायता के खिलाफ एक विद्रोह भी है। समय के खिलाफ ऐसा ही एक प्रतिकार दिव्या '2050' नामक कहानी में करती हैं। भारत समय और स्थान को अन्तःपरिवर्तनीय (interchangeable) बना देता है। भारत लेखक को कोई भावुकता में भर देने वाला संदर्भ नहीं है। भारत उसे एक ऐसी सामर्थ्य देता लगता है जिससे 'बियान्ड रिकॉल' माने जा रहे समय के सामने प्रवासी संवेदना एक आत्मविश्वास के साथ खड़ी हो सकती है। कई बार यह सामर्थ्य भारत के सद्गुणों पर ही मुनहसिर नहीं होती, भारत की खराबियों से भी पैदा होती है। दिव्या माथुर की बहुत ही प्यारी कहानी 'अंतिम तीन

दिन' पढ़िए। उसमें भारत के एक शहर पटना की गुंडागर्दी से टकराने की इच्छा मरने का इंतज़ार कर रही स्त्री के रोम-रोम को इतना स्पन्दित कर देती है कि उसे लगता है कि इतनी ज़िन्दा तो वह जीवन में पहले कभी नहीं रही। इसलिए इस नास्टाल्जिआ को लांगिंग (तृष्णा) से कहीं ज्यादा बिलांगिंग (सम्बद्वता) के रूप में देखना चाहिए। भारत इस कारण किसी देशभक्ति के राजनीतिक अर्थ में नहीं, बल्कि उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक अर्थ में प्रवासी लेखक की रचनाओं में घटित होता है। भारत की भिन्नता का यह अहसास लेखक की पृष्ठभूमि से नहीं होता, उस मंच से-उस प्लेटफार्म से होता है जिस पर वह खड़ा है। प्रवासी साहित्यकार के हृदय में भारत के साथ कोई अमर रोमांस चल रहा हो, यह जरूरी नहीं। वह अपने बर्ताव में भारत के साथ काफी न्यूट्रल भी हो सकता है। फिर भी, भारत एक अनिवार्य क्षितिज है। जहाँ से सिर्फ कुछ गुजरी हुई छायाएँ ही प्रवासी लेखन में नहीं फैली हैं, बल्कि कुछ आलोक भी फूट पड़ता है। यह भारत श्रद्धा के तौर पर ही संदर्भित हो- प्रवासी लेखन में ऐसा एक नियम की तरह नहीं हुआ। लेकिन इस भारत में एक होम रीडरशिप है, जिसका अवधान लेखन के मन से कभी नहीं उतरता।

क्या प्रवासी साहित्य हिन्दी के अभिजन का, एलीट का साहित्य है? हिंदी की लीज़र-क्लास का, विश्रांति-वर्ग का? जिसके लिए यह एक फुरसत का शगल है? क्योंकि अब यह साहित्य अपना वर्ग-चरित्र परिवर्तित कर चुका है। अब यह गिरमिटियों का साहित्य नहीं है। अब उपनिवेशवाद के चलते लोग भारत से बाहर नहीं जाते, अब वे वैश्वीकरण के चलते बाहर जाते हैं। इसलिए अब उन लोगों के सामने वह स्थिति नहीं है जब झुंड के झुंड देश के बाहर मजदूरी के लिए ठेल दिए जाते थे, अब तो व्यक्तिगत निर्वाचन के चलते प्रवास होता है। फिर भी, अचला शर्मा की 'मेहरचंद की दुआ' शीर्षक कहानी अब भी मजदूर वर्ग की कहानी है। यह एक दिलचस्प विषय हो सकता है कि अपने औपनिवेशक देश में जाकर वहाँ रहते हुए आधुनिक भारत से आए इस प्रवासी को कैसा लगता है। सत्येन्द्र श्रीवास्तव अपनी एक कविता में कहते हैं-''सर विंस्टन आप मेरी माँ को जानते हैं। वह भी एक सात महीने के बच्चे का पेट फुलाए/मेरे पिता का आशीष लेकर/मसूरी के उसी रास्ते पर लेट गई थी। जहाँ से फौजियों के दस्तों को लौटना पडा था....../मैं उसी माँ के पेट से जन्मा उसका बेटा हूँ। और मेरा नाम सत्येन्द्र है। और मैं आपसे यह कहने आया हूँ कि मैं अब इंग्लैड में आ गया हूँ'' यहाँ औपनिवेशिक दुःस्वप्न नए भारत के इस विश्व-नागरिक से टकरा गया है।

यह विश्व-नागरिक भारतीय सिर्फ यू.के/यू.एस.ए. ही नहीं जाता। मध्यपूर्व भी जाता है और वहाँ वैश्वीकरण के दुःस्वप्नों से भिड़ता है। तेजेन्द्र शर्मा की 'ढ़िबरी टाइट' में इसे देखिए। अपनी करूणा में यह कहानी 'उसने कहा था' की याद दिलाती है। इसलिए नहीं कि दोनों की पृष्ठभूमि पंजाबी है, इसलिए भी नहीं कि दोनों में किसी 'वार' या 'युद्ध' की पृष्ठभूमि है, बल्कि इसलिए कि दोनों में स्मृतियाँ हैं। गुँजित और प्रतिगुँजित होती हुईं। दोनों में फ्रस्ट्रेशन है। फ़र्क़ है। एक में मृत्यु के ऊपर प्यार की विजय है। एक में प्यार के ऊपर मृत्यु की विजय है। एक में मूक कर देने वाला वाचाल प्यार है, दूसरे में मूक और स्तब्ध कर देने वाली मृत्यु है। सैनिक का बलिदान है एक में, नागरिक की बलि है दूसरे में। दोनों में आख़िरी वाक्य एक टीस की रेख भीतर की ज़मीन पर खींच जाता है। कुवैत पर ईराकी सेना का आक्रमण। प्रकटतः असम्बद्ध। लेकिन अवसाद के आघात से ग्रस्त आदमी के लिए वह एक बहुत दूरवर्ती से, बहुत कमजोर से दिखने वाले संबंध का बहुत महीन तार भी जैसे किसी बड़ी हद तक एक अनुशोध है। एक आम आदमी की आत्यन्तिक असहायता की सम्पूर्ण स्थापना है वह। न केवल एक विदेशी परिवेश की असंवेदनशीलता के विरूद्ध बल्कि शायद मृत्यु के देवता के समक्ष। नियति के समक्ष।

मृत्यु तेजेन्द्र के यहाँ एक तरह की अतार्किकता है। वह रीजन का ध्रुवान्त है। वहाँ मृत्यु का मेटाफ़िज़िक्स नहीं है। बस वह है वहाँ। तर्क के विरूद्ध खुद को संभव करती हुई। एक प्वाइंट की तरह नहीं, एक प्रक्रिया की तरह। खिंची हुई। त्रिशंकु की तरह टँगी हुई। बार-बार सामने आते हुए सवाल की तरह। एक संक्रमण (ट्रांजीशन) की तरह नहीं, एक संक्रामण (Infection) की तरह। व्यापती हुई। मृत्यु, जिसका कोई मापदण्ड नहीं है, क्राइटेरिया नहीं है। 'कैंसर' नाम वाली कहानी को देखें या 'देह की कीमत' को या उसी 'ढिबरी टाइट' को- तेजेन्द्र जैसे किसी मृत्यु से लगातार तर्क (argue) कर रहे हैं, लेकिन मृत्यु जैसे अपने को मॉरलाइज़ कर ही नहीं रही।

अपने वास्तविक जीवन में ज़िन्दगी से इतना प्यार करने वाले तेजेन्द्र के यहाँ मृत्यु के बारे में इतनी अन्तर्दृष्टियाँ मिलेंगी, यह शुरू-शुरू में मैं उम्मीद ही नहीं करता था। 'कैंसर' में यदि वह एक तरह की बायोलाजिकल फ्रीजिंग है तो 'देह की कीमत' में वह उतनी ही निर्मम है, जैसे 'कफ़न' में प्रेमचन्द के यहाँ। मृत्यु जब संवेदना नहीं, एक स्ट्रेटेजी बन जाती है। जैसे 'कफ़न' में गरीबी के कारण पनपी संवेदनहीनता है, वैसे 'देह की कीमत' में आधुनिकता की दौर की संवेदनहीताएं है। घीसू-माधव की तुलना में ये ज्यादा त्रासद लगती हैं, क्योंकि इन्हें जस्टिफाई करने के लिए ग़रीबी का लॉजिक भी अनुपलब्ध है। जीवन को मृत्यु ही Violate नहीं करती, कई बार जीवन भी मृत्यु को Violate करता है। और फिर 'कैंसर' तेजेन्द्र एक वूंडेड स्टोरीटेलर हैं। कैंसर पर उनकी तीन कहानियाँ हैं-'अपराधबोध का प्रेत', 'कैंसर' और 'रेत का घरौन्दा'। मुझे इन कहानियों को पढ़कर याद आई हैं कुछ और कहानियाँ- ऐमी ग्रनबर्गर



की 'कीमोथिरेपी', एड्रियन रिच की 'अ वुमैन डेड इन हर फोर्टीज', जेम्स की डिकी की 'द कैंसर मैच' और पैट्रेशिया गोएडिक की 'इन दा हास्पिटल' जैसी कहानियाँ- जो सबकी सब कैंसर पर हैं। कैंसर की पृष्ठिभूमि इन कहानियों में होने का एक आनुभविक कारण हो सकता हैं, लेकिन एक बड़ा कारण यह है कि कैंसर के सामने मनुष्य की निरूपायता। कैंसर एक ही साथ कंसर्न भी हैं, कैथार्सिस भी। कहीं वो कॉमिक है तो कहीं वो कॉस्टिक। कौन कहता है कि जिन्दगी 'फेयर' है? बहुत से अन्याय हैं जिनका कोई जबाव नहीं मिलता बल्कि जो हमसे मांगते हैं- गहरी सहिष्णुता। सहने के अलावा रास्ता क्या है? सैमुअल जॉनसन ने कहीं कहा हैः

"The prospect of death wonderfully concentrates the mind " यहाँ तेजेन्द्र की कहानियों में भी एकाग्रता है, वह भी शायद मृत्यु के उसी आसन्न स्वभाव का परिणाम है, दीवार पर-सामने की दीवार पर-आने वाली विडंबना की तस्वीरें झूल रहीं हैं और तेजेन्द्र उसे लिखते ही चले जा रहे हैं। उनका वश चले तो समय को चूर-चूर कर दें, बस नहीं चलता। तो उस अनुभव को रीडीम कैसे किया जाए? एक कहानी लिखकर भी काम नहीं बनता इसलिए बार-बार वे अलग-अलग तरह से उसे लिखते हैं। बीमारी जैसे हमारे शरीर में नहीं, हमारे संबंधों में घर कर गई है। तो कैंसर संबंधों को व्याख्यायित करता है। वह एक बीमारी की तरह नहीं उभरता, एक मेटाफ़र की तरह नहीं उभरता, एक आईने की तरह लगता है जिसमें हर चेहरे, हर संबंध की सच्चाई सामने आ जाती है।

यदि वे ऐसा नहीं कर पा रहे हैं तो इसके पीछे उनकी पृष्ठभूमि से आ रही रौशनी ही है। इस कारण वे हमेशा भारत के बहुल से सम्पृक्त महसूस करते हैं और कभी अल्पता-बोध से ग्रस्त नहीं होते। पूर्णिमा वर्मन ने अपनी कहानी 'यों ही चलते हुए' में इसे यों निष्पत्ति दी है: 'शायद हर भारतीय का यही तरीका है- वे या तो अपने चौखाने पार नहीं करते या हजारों चौखाने पार करते हुए अपने चौखानों पर वापस लौट आते हैं। शायद इसीलिए दुनिया में कहीं भी रहें चौखानों की भीड़ में वे खोते नहीं। हर बार मेन रोड पर मिल जाते हैं............जिन्दगी में भी।' वे हिंदी में लिख रहे हैं, यही इस बात का सबूत है कि सांस्कृतिक वैभिन्य से अभी उन्होंने संकोच नहीं किया है। उनका लेखन उनके अस्तित्व की एक सहवर्ती (साइमल्टेनियस)



प्रवासी हिन्दी साहित्य का एक अध्ययन इस दृष्टि से होना शेष है कि प्रवास के देश की तत्समय प्रचलित साहित्यिक शैलियों और परंपराओं का कितना प्रभाव हिन्दी की प्रवासी रचनाओं पर पड़ा। क्या वे कुछ ऐसे आयात हैं जिन्होंने हिन्दी को एक नई समृद्धि दी? यानी प्रवासी हिन्दी साहित्यकार से हमारी अपेक्षा यह नहीं है कि वह प्रवास के देश में अपने भाषाई सहधर्मियों का एक अल्पसंख्यक समूह बना ले और उन्हीं गोष्ठियों में ग़ाफिल रहे बल्कि यह कि अपनी नेचुरलाइज्ड कंट्री की सर्वश्रेष्ठ और आधुनिक सृजन-प्रथाओं और मुहावरों को अपनी लेखन-प्रेरणाओं में, अपनी रचना-रीति के फैब्रिक में स्थान दे। रचना-रीति से मेरा अभिप्राय अभिव्यक्ति के नखरों से नहीं है बल्कि एक तरह के विजन से है।

अलबत्ता अल्पसंख्यक होने का जो एक अहसास है, उसकी एक प्रामाणिक अभिव्यक्ति जरूर प्रवासी लेखक अपने साहित्य में कर सकते हैं।

उपलब्धि है। जड़ से उखड़ना एक अनुभव है- अपरूटिंग। कृष्ण बिहारी की कहानी 'जड़ों से कटने पर' में कथाकार का निष्कर्ष है कि 'पहली बार अहसास हुआ कि अपने देश के अंदर आदमी की अपनी और जड़ों की जो ताकत होती है वह दूसरे देश में कोई औकात नहीं रखती। लेकिन उसके साथ साथ एक अनुभव हवा में तैरने-फ्लोटिंग- का भी है। ' अब इस फ्लोटिंग को आप प्रेम जनमेजय की कहानी क्षितिज पर उड़ती स्कारलेट आयबिस के रूप में देखें जो त्रिनिदाद का राष्ट्रीय पक्षी है-कहानीकार केशब्दों में- नीले आसमान में कहीं भी जाने को स्वतंत्र पंख पसारता।

गौतम सचदेव की कहानी 'आकाश की बेटी' जिसमें व्हील चेयर से बंधी स्त्री कत्थई कबूतरी का इंतजार करते हुए आकाश की ओर देख रही है, भी शायद इसी द्वैत की कहानी है। प्रवासी लेखन के इस डबलस्प्रेड में ही उसकी अद्वितीयता है।

रू-ब-रू



वीनस केसरी

जन्म तिथि - १ मार्च 1985
शिक्षा - स्नातक
संप्रति - पुस्तक व्यवसाय व प्रकाशन (अंजुमन प्रकाशन)
प्रकाशन - प्रगतिशील वसुधा, कथाबिम्ब, अभिनव प्रयास, गर्भनाल, अनंतिम, गुफ्तगू, विश्गाथा आदि अनेक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में से से पर ग़ज़ल, गीत व दोहे का प्रकाशन हरिगंधा, ग़ज़लकार, वचन आदि में ग़ज़ल पर शोधपरक लेख प्रकाशित
विधा - ग़ज़ल, गीत छन्द कहानी आदि
प्रसारण - आकाशवाणी इलाहाबाद व स्थानीय टीवी चैनलों से रचनाओं का प्रसारण
पुस्तक - अरूज़ पर पुस्तक "ग़ज़ल की बाबत" प्रकाशनाधीन
विशेष - उप संपादक, त्रैमासिक 'गुफ़्तगू', इलाहाबाद
(अप्रैल २०१२ से सितम्बर २०१३ तक)
सह संपादक नव्या आनलाइन साप्ताहिक पत्रिका
(जनवरी २०१३ से अगस्त २०१३ तक)

पत्राचार - जनता पुस्तक भण्डार, 942, आर्य कन्या चौराहा, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद -211003
मो. - (0)945 300 4398 (0)923 540 7119

वीनस की गज़लें

ग़ज़ल १ -

दिल से दिल के बीच जब नज़दीकियाँ आने लगीं
फैसले को 'खाप' की कुछ पगड़ियाँ आने लगीं

किसको फुर्सत है भला, वो ख़्वाब देखे चाँद का
अब सभी के ख़्वाब में जब रोटियाँ आने लगीं

आरियाँ खुश थीं कि बस दो –चार दिन की बात है
सूखते पीपल पे फिर से पत्तियाँ आने लगीं

उम्र फिर गुज़रेगी शायद राम की वनवास में
दासियों के फेर में फिर रानियाँ आने लगीं

बीच दरिया में न जाने सानिहा क्या हो गया
साहिलों पर खुदकुशी को मछलियाँ आने लगीं

है हवस का दौर यह, इंसानियत है शर्मसार
आज हैवानों की ज़द में बच्चियाँ आने लगीं

हमने सच को सच कहा था, और फिर ये भी हुआ
बौखला कर कुछ लबों पर गालियाँ आने लगीं

शाहज़ादों को स्वयंवर जीतने की क्या गरज़
जब अँधेरे मुंह महल में दासियाँ आने लगीं

उसने अपने ख़्वाब के किस्से सुनाये थे हमें
और हमारे ख़्वाब में भी तितलियाँ आने लगीं

ग़ज़ल- २

उलझनों में गुम हुआ फिरता है दर-दर आइना ।
झूठ को लेकिन दिखा सकता है पैकर आइना ।

शाम तक खुद को सलामत पा के अब हैरान है,
पत्थरों के शहर में घूमा था दिन भर आइना ।

गमज़दा हैं, खौफ़ में हैं, हुस्न की सब देवियाँ,
कौन पागल बाँट आया है ये घर-घर आइना ।

आइनों ने खुदकुशी कर ली ये चर्चा आम है,
जब ये जाना था की बन बैठे हैं पत्थर, आइना ।

मैंने पल भर झूठ-सच पर तब्सिरा क्या कर दिया,
रख गए हैं लोग मेरे घर के बाहर आइना ।

अपना अपना हौसला है, अपने अपने फैसले,
कोई पत्थर बन के खुश है कोई बन कर आइना ।

ग़ज़ल-३

प्यास के मारों के संग ऐसा कोई धोका न हो
आपकी आँखों के जो दर्या था वो सहरा न हो

उनकी दिलजोई की खातिर वो खिलौना हूँ जिसे
तोड़ दे कोई अगर तो कुछ उन्हें परवा न हो

आपका दिल है तो जैसा चाहिए कीजै सुलूक
परा ज़रा यह देखिए इसमें कोई रहता न हो

पत्थरों की ज़ात पर मैं कर रहा हूँ एतबार
अब मेरे जैसा भी कोई अक्ल का अँधा न हो

ज़िंदगी से खेलने वालों जरा यह कीजिए
ढूढिए ऐसा कोई जो आखिरश हारा न हो

ग़ज़ल-४

छीन लेगा मेरा .गुमान भी क्या
इल्म लेगा ये इम्तेहान भी क्या

ख़ुद से कर देगा बदगुमान भी क्या
कोई ठहरेगा मेहबान भी क्या

है मुकद्दर में कुछ उड़ान भी क्या
इस ज़मीं पर है आसमान भी क्या

मेरा लहजा ज़रा सा तल्ख़ जो है
काट ली जायेगी ज़बान भी क्या

धूप से लुट चुके मुसाफ़िर को
लूट लेंगे ये सायबान भी क्या

इस क़दर जीतने की बेचैनी
दाँव पर लग चुकी है जान भी क्या

अब के दावा जो है मुहब्बत का
झूठ ठहरेगा ये बयान भी क्या

मेरी नज़रें तो पर्वतों पर हैं
मुझको ललचायेंगी ढलान भी क्या



ग़ज़ल-५.

ये कैसी पहचान बनाए बैठे हैं
गूंगे को सुल्तान बनाए बैठे हैं

मैडम बोली थी घर का नक्शा खींचो
बच्चे हिन्दुस्तान बनाए बैठे हैं

आईनों पर क्या गुजरी, क्यों ये सब,
पत्थर को भगवान बनाए बैठे हैं

धूप का चर्चा फिर संसद में गूंजा है
हम सब रौशनदान बनाए बैठे हैं

जंग न होगी तो होगा नुक्सान बहुत
हम कितना सामान बनाए बैठे हैं

वो चाहें तो और कठिन हो जाएँ पर
हम खुद को आसान बनाए बैठे हैं

आप को सोचें दिल को फिर गुलज़ार करें
क्यों खुद को वीरान बनाए बैठे हैं

कल्पना रामानी



६ जून १९५१ को उज्जैन में जन्मी कल्पना रामानी ने हालांकि हाई स्कूल तक ही औपचारिक शिक्षा प्राप्त की परन्तु उनके साहित्य प्रेम ने उन्हें निरंतर पढ़ते रहने को प्रेरित किया। पारिवारिक उत्तरदायित्वों तथा समस्याओं के बावजूद उनका साहित्य-प्रेम बरकरार रहा ।

वे गीत, गजल, दोहे कुण्डलिया आदि छंद-रचनाओं में विशेष रुचि रखती हैं। उनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं और अंतर्जाल पर प्रकाशित होती रहती हैं ।

वर्तमान में वे वेब की सर्वाधिक प्रतिष्ठित पत्रिका 'अभिव्यक्ति-अनुभूति'के संपादक मण्डल की सदस्य हैं।

प्रकाशित कृतियाँ- गीत संग्रह -'हौसलों के पंख'

ईमेल -kalpanasramani@gmail.com

नवगीत-१

कैसे बीते काले दिन
ज़रा पूछिए इन लोगों से,
कैसे बीते काले दिन।
फुटपाथों की सर्द सेज पर,
क्रूर कुहासे वाले दिन।

सूरज, जो इनका हमजोली,
वो भी करता रहा ठिठोली।
तहखाने में भेज रश्मियाँ,
ले आता कुहरा भर, झोली।

गर्म वस्त्र तो मौज मनाते,
इन्हें सौंपते छाले दिन।

दूर जली जब आग देखते,
नज़रों से ही ताप सेंकते
बैरन रात न काटे कटती,
गात हवा के तीर छेदते।

इन अधनंगों ने गठरी बन,
घुटनों बीच सँभाले दिन।

धरा धुरी पर चलती रहती,
धूप उतरती चढ़ती रहती।
हर मौसम के परिवर्तन पर,
कुदरत इनको छलती रहती।

ख्वाबों में नवनीत इन्होंने,
देख, छाछ पर पाले दिन।

ग़ज़ल-१

आज खबरों में जहाँ जाती नज़र है।
रक्त में डूबी हुई, होती खबर है।

फिर रहा है दिन उजाले को छिपाकर,
रात पूनम पर अमावस की मुहर है।

ढूँढते हैं दीप लेकर लोग उसको,
भोर का तारा छिपा जाने किधर है।

डर रहे हैं रास्ते मंज़िल दिखाते,
मंज़िलों पर खौफ का दिखता कहर है।

खो चुके हैं नद-नदी रफ्तार अपनी,
साहिलों की ओट छिपती हर लहर है।

साज़ हैं खामोश, चुप है रागिनी भी,
गीत गुमसुम, मूक सुर, बेबस बहर है।

हसरतों के फूल चुनता मन का माली,
नफरतों के शूल बुनती सेज पर है।

आज मेरा देश क्यों भयभीत इतना,
हर गली सुनसान, सहमा हर शहर है।

नवगीत-२

चलो नवगीत गाएँ

गर्दिशों के भूलकर शिकवे गिले,
फिर उमंगों के चलो नवगीत गाएँ।

प्रकृति आती
रोज़ नव शृंगार कर।
रूप अनुपम, रंग उजले
गोद भर।

जो हमारे हिय छुपा है चित्रकार,
भाव की ले तूलिका उसको जगाएँ।

झोलियाँ भर
ख़ुशबुएँ लाती हवा।
मखमली जाजम बिछा
जाती घटा।

ख़्वाहिशों के, बाग से चुनकर सुमन,
शेष शूलों की चलो होली जलाएँ।

नित्य खबरें
क्यों सुनें खूँ से भरी।
क्यों न उनकी काट दें
उगती कड़ी।

लेखनी ले हाथ में नव क्रांति की,
हर खबर को खुशनुमा मिलकर बनाएँ।

देख दुख, क्यों
हों दुखी, संसार का।
पृष्ठ कर दें बंद क्यों ना
हार का।

खोजकर राहें नवल निस्तार की,
जीत की अनुपम, नई दुनिया बसाएँ।

ग़ज़ल-२

बल भी उसके सामने निर्बल रहा है।
घोर आँधी में जो दीपक जल रहा है।

डाल रक्षित ढूँढते, हारा पखेरू,
नीड़ का निर्माण, फिर फिर टल रहा है।

हाथ फैलाकर खड़ा दानी कुआँ वो,
शेष बूँदें अब न जिसमें जल रहा है।

देखिये इस बात पर कुछ गौर करके,
आज से बेहतर हमारा कल रहा है।

मन को जिसने आज तक शीतल रखा था,
सब्र का घन धीरे-धीरे गल रहा है।

ख्वाब है जनतन्त्र का अब तक अधूरा,
आदि से जो इन दृगों में पल रहा है

ग़ज़ल-३

सुनहरी भोर बागों में, बिछाती ओस की बूँदें!
नयन का नूर होती हैं, नवेली ओस की बूँदें!

चपल भँवरों की कलियों से, चुहल पर मुग्ध सी होतीं,
मिला सुर गुनगुनाती हैं, सलोनी ओस की बूँदें!

चितेरा कौन है? जो रात, में जाजम बिछा जाता,
न जाने रैन कब बुनती, अकेली ओस की बूँदें!

करिश्मा है खुदा का या, कि ऋतु रानी का ये जादू,
घुमाकर जो छड़ी कोई, गिराती ओस की बूँदें!

नवल सूरज की किरणों में, छिपी होती हैं ये शायद,
जो पुरवाई पवन लाती, सुधा सी ओस की बूँदें!

टहलने चल पड़ें साथी, निहारें रूप प्रातः का,
न जाने कब बिखर जाएँ, फरेबी ओस की बूँदें!

शब्द व्यंजना
एक साहित्यिक पहल

जगदीश पंकज



पूरानाम : जगदीश प्रसाद जैन्ड

जन्म : 10 दिसम्बर 1952

स्थान : पिलखुवा , जिला-गाज़ियाबाद (उ.प्र .)

शिक्षा : बी .एस सी .

विभिन्नपत्र – पत्रिकाओं में गीत एवं कवितायें प्रकाशित, एक नवगीत संग्रह प्रकाशनाधीन

सम्प्रति : सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया में वरिष्ठ प्रबन्धक के पद से सेवा निवृत्त एवं स्वतंत्रलेखन

संपर्क : सोमसदन ,5/41 सेक्टर -2 ,राजेन्द्रनगर,साहिबाबाद गाज़ियाबाद -201005 .

मो : 08860446774

ईमेल : jpjend@yahoo.co.in

नवगीत-१

अपने को ही पाती लिखकर

अपने को ही पाती लिखकर
खुद ही बैठे बाँच रहे हैं
अपने-अपने रंगमंच पर
कठपुतली से नाच रहे हैं

सम्बोधन के शब्द स्वयं ही
हमने अपने लिए गढ़े हैं
आत्ममुग्धता में औरोंके
पत्र अभी तक नहीं पढ़े हैं

अपने ही सब प्रश्न-पत्र हैं
उत्तर भी खुद जांच रहे हैं

सदियों से संतापित भी तो
कुछ अपने ही आस-पास हैं
उनके भी अपने अनुभव हैं
वे भी कुछ तो आम-ख़ास हैं

उनको मिले हाशिए, उनके
हिस्से टूटे कांच रहे हैं

मात्र आंकड़ों में अंकित है
अपनी-अपनी रामकहानी
पिसते रहे उम्रभर अब तक
पाने को कुछ दाना-पानी

कुछ कर्मों के, कुछ जन्मों के
बंधन झूठी-सांच रहे हैं .

नवगीत-२

क्या बोया, क्या काट रहे हैं

क्या बोया, क्या काट रहे हैं
अपनी क्यारी में
हम हैं किस अज्ञात
भविष्य की तैयारी में

किस पीढ़ी ने खाद-बीज ये
कैसे डाल दिए
अंकुर भी आये तो भारी
खर-पतवार लिए
जैसी भी है फसल काटनी
है लाचारी में

भागम-भाग लगी है जैसे
कोई लूट मची
संतों की करनी-कथनी भी
शक से नहीं बची
राह दिखाने वाले फेंकें
घी चिंगारी में

अपने ही घर में चोरी करके
क्यों रीझ रहे
चेहरा दर्पण में देखा
कालिख से खीझ रहे
जो विकल्प हैं उन्हें सभालें
कल की बारी में

नवगीत-३

फिर सभी सामान्य होते जा रहे हैं

फिर सभी सामान्य
होते जा रहे हैं
भूलकर अब
हादसों को लोग



मर रही संवेदना का
शव-परीक्षण
कर सकें तो
जानकारी ही मिलेगी
सोच के हम किस
धरातल पर खड़े हैं
जान पायें चेतना
कुछ तो हिलेगी
चीख चौंकाती नहीं
मुँह फेर चलते
देखकर अब
बेबसों को लोग

मुक्त बाजारीकरण की
दौड़ में अब
वेदना भी, जिंस
बनती जा रही है
कौन प्रायोजक मिलेगा
सांत्वना को
नग्नता टीआरपी
जब पा रही है
घाव पर मरहम लगाना
भूलकर अब
घिर रहे क्यों
ढ़ाढसों में लोग......

नवगीत-४

हताशा हँस रही

हताशा हँस रही, चिपकी
अवश, निरूपाय
चेहरों पर.

विकल्पों में कहाँ खोजें
कोई अनुकूल-सी सीढ़ी
व्यस्त अवसाद, चिन्ता में
घिरी जब, आज की पीढ़ी

महत्वाकांक्षा आहत
विवश, अनजान
लहरों पर.

विमर्शों में नहीं कोई
कहीं मुद्दा कभी बनता
विरोधाभास में जीती
विफल, असहाय-सी जनता

असहमत मूक निर्वाचन
खड़ा है व्यर्थ
पहरों पर.......



नरेश शांडिल्य

लेखकीय नाम : नरेश शांडिल्य
मूल नाम : नरेश चन्द्र शर्मा
जन्म तिथि : 15 अगस्त 1958
शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी)

प्रकाशित/प्रकाश्य कृतियां : टुकड़ा टुकड़ा ये जिंदगी – काव्य संग्रह (1995), साहित्य मंदिर, नई दिल्ली
दर्द जब हंसता है – दोहा – कविता संग्रह (2000), सार्थक प्रकाशन, नई दिल्ली
मैं सदियों की प्यास – ग़ज़ल – संग्रह (2006), किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली
कुछ पानी कुछ आग – दोहा – संग्रह (2008), डायमंड बुक्स, नई दिल्ली
नाटय प्रस्तुति में गीतों का सार्थकता – शोध कार्य (प्रकाशाधीन)

पुरस्कार/सम्मान : हिन्दी अकादमी, दिल्ली की ओर से काव्य संग्रह 'टुकड़ा टुकड़ा ये जिंदगी' के लिए 'साहित्यिक कृति सम्मान' (1996)
हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा 'आज के दोहाकार' श्रृंखला के अंतर्गत सम्मानित (1998)
भारतीय हिन्दी परिषद्, दिल्ली की ओर से 'भवानीप्रसाद मिश्र सम्मान' (2001)
वातायन, लन्दन, यू. के. की ओर से 'वातायन कविता सम्मान' (2005)
कविता का 'ऋतुराज परम्परा सम्मान' (2010)

नाटक : लगभग 20 नाटकों / मंचीय व ध्वनि –प्रकाश प्रस्तुतियों में 50 से अधिक नाट्य गीतों का लेखन व 500 से अधिक नाट्य प्रस्तुतियों में प्रमुख अभिनय
'सांग एंड ड्रामा डिविजन' के लिए समय समय पर पटकथा व गीत लेखन
भारत सरकार के संस्कृति विभाग की ओर से थिएटर में 'सीनियर फेलोशिप' के अंतर्गत लगभग 400 पृष्ठों में 'नाटय प्रस्तुति गीतों की सार्थकता' विषय पर शोध कार्य.

सम्प्रति : यूनियन बैंक ऑफ़ इंडिया , नई दिल्ली में कार्यरत

संपर्क : ए-5, मनसाराम पार्क, सन्डे बाजार रोड, उत्तम नगर, नई दिल्ली – 110059
दूरभाष : 011-25334908 (निवास) , 9868303565 मोबाईल
ई-मेल : nareshhindi@yahoo.com

कुछ दोहे

एक कहो कैसे हुई, मेरी-उसकी बात।
मैंने सब अर्जित किया, उसे मिली खैरात।1।

भीख न दी मैंने उसे, लौट गया वो दीन।
उससे भी बढ़कर हुई, खुद मेरी तौहीन।2।

उनकी आंखों में पढ़ी, विस्थापन की पीर।
उपन्यास से कम न था, उन आंखों का नीर।3।

ख्वाब न हों तो जिन्दगी, चलती-फिरती लाश।
पंख लगाकर ये हमें, देते हैं आकाश।4।

महलों पर बारिश हुई, चहके सुर-लय-साज।
छप्पर मगर गरीब का, झेले रह-रह गाज।5।

कहना है तो कह मगर, कला कहन की जान।
एक महाभारत रचे, फिसली हुई जुबान।6।

कबिरा की किस्मत भली, कविता की तकदीर।
कबिरा कवितामय हुआ, कविता हुई कबीर।7।

मुट्ठी में दुनिया मगर, ढूंढ रहा मैं नींद।
खोई जिसकी बींदणी, मैं हूं ऐसा बींद।8।

'सिंह गया तब गढ़ मिला', हा ये कैसी जीत।
तुम्हीं कहो इस जीत का, कैसे गाऊं गीत।9।

इस दुनिया से आपकी, नहीं पड़ेगी पूर।
चलो चलें शांडिल्य जी, इस दुनिया से दूर।10।

ग़ज़ल- १

शोह्रत मिली है मुझको यूँ रुसवाइयों के साथ
चोटी पे हूँ मैं चारों तरफ़ खाइयों के साथ

मैं तालियों के शोर में गुमसुम हूँ, मौन हूँ
मैं भीड़ में घिरा हूँ यूँ तनहाइयों के साथ

मुझको यही मलाल रहेगा तमाम उम्र
मैं भी वहाँ खड़ा था तमाशाइयों के साथ

तारीकियाँ हैं लाख मेरे भाग में तो क्या
तारीकियों में शाद हूँ रानाइयों के साथ

कोयल की कूह-कूह से गुलशन सिहर उठा
बौरा रहा हूँ मैं भी इन अमराइयों के साथ

ग़ज़ल- २

शह्र में कल मुझे तितलियाँ मिल गईं
नर्क के बीच भी मस्तियाँ मिल गईं

इक अजूबा हुआ कल मैं सहरा में था
रेत पर तैरती मछलियाँ मिल गईं

गाँव में कल जो विधवाओं के मैं गया
औरतें बेचती चूड़ियाँ मिल गईं

कल अजब मूड में था मेरा आइना
एक चेह्रे की सौ झलकियाँ मिल गईं

उसने ई-मेल से मुझसे पूछा कि क्या
उसकी खोई हुई चिट्ठियाँ मिल गईं

ग़ज़ल- ३

मेरा बचपन मेरे चेहरे पे अब भी खिलखिलाता है
मेरे सीने में इकतारा बजाता कोई गाता है

मेरी पथराई-सी आँखें ये अब भी भीग जाती हैं
मेरी आँखों की डबडब में समुन्दर कसमसाता है

यक़ीनन है, यक़ीनन है कि मुझमें जानवर भी है
मगर अब भी वो मेरे आदमी से हार जाता है

फ़क़ीरों-सी मेरी आदत पे कोई कुछ कहे लेकिन
जो रुचता है मेरे जी को मुझे तो वो ही भाता है

बहुत बेचैनियों में हूँ मगर इतनी तसल्ली है
कोई तो है जो याद आकर मुझे अब भी सताता है

ग़ज़ल- ४

बात यूँ ही न बनाए कोई
बात है गर तो बताए कोई

जीना मुमकिन तो नहीं, हाँ, फिर भी
इस तरह मर तो न जाएँ कोई

मान जाएँगे कि हम मुरदा हैं
हम-सा जी कर तो दिखाए कोई

झुनझुनों से यूँ कहाँ तक बहलें
चुप हमें यूँ न कराए कोई

हम कहाँ थे ये पता क्या करना
हम कहाँ हैं ये बताए कोई

माहिए

क्या-क्या न कहो कहती
पीर पहाड़ों की
जब होके नदी बहती

ये आंख का पानी है
कौन कहो इसका
इस दुनिया में सानी है

लागी वो लगन लागी
चांद उगा मुझमें
जागी वो अगन जागी

यों लाख मिला उनसे
कह न सका दिल की
क्या खाक मिला उनसे

मुझको भी कबीरा कट
अदना-सा पत्थर हूं
ले मुझको भी हीरा कर

दिल है कि न माने है
कर के ही गुज़रे है
दिल में जो ठाने है

ये चांद पिया-सा है
देख सखी ये तो
मेरे ही हिया-सा है

जीने का हुनर सीखो
ज़ह्र ये अमृत-सा
पीने का हुनर सीखो

अरुन श्री



जन्मतिथि : 29.09.1983

पिता : श्री उमाशंकर लाल

माता : श्रीमती हीरावती

शिक्षा : बी. कॉम. , डिप्लोमा इन कंप्यूटर एकाउंटिंग

जन्म स्थान : कलानी, रामगढ , कैमूर(बिहार)

वर्तमान पता : मुगलसराय, चंदौली(उत्तर प्रदेश)

सम्प्रति : निजी क्षेत्र में लेखाकार(पेशा)

मोबाईल न : 09369926999

ई-मेल : arunsri4ever@gmail.com

अंतिम योद्धा

हाँ
मैं पिघला दूँगा अपने शस्त्र
तुम्हारी पायल के लिए
और धरती का सौभाग्य रहे तुम्हारे पाँव
शोभा बनेंगे
किसी आक्रमणकारी राजा के दरबार की
फर्श पर एक विद्रोही कवि का खून बिखरा होगा!

हाँ
मैं लिखूँगा प्रेम कविताएँ
किन्तु ठहरो तनिक
पहले लिख लूँ एक मातमी गीत
अपने अजन्मे बच्चे के लिए
तुम्हारी हिचकियों की लय पर
बहुत छोटी होती है सिसकारियों की उम्र

हाँ
मैं बुनूँगा सपने
तुम्हारे अन्तः वस्त्रों के चटक रंग धागों से
पर इससे पहले कि उस दीवार पर -
जहाँ धुंध की तरह दिखते हैं तुम्हारे बिखराए बादल
जिनमें से झांक रहा है एक दागदार चाँद!
वहीं दूसरी तस्वीर में
किसी राजसी हाथी के पैरों तले है दार्शनिक का सर!
- मैं टांग दूँ अपना कवच
कह आओ मेरी माँ से कि वो कफ़न बुने
मेरे छोटे भाइयों के लिए
मैं तुम्हारे बनाए बादलों पर रहूँगा

हाँ
मुझे प्रेम है तुमसे
और तुम्हे मुर्दे पसंद हैं !

सुनो स्त्री!

सुनो स्त्री!
पुरुष स्पर्श की भाषा सुनो!
और तुम देखोगी आत्मा को देह बनते!

तेज हुई साँसों की लय पर थिरकती छातियाँ
प्रेम कहेंगी तुमसे -
संगीत और नृत्य के संतुलन को!
सामंजस्य जीवन कहलाता है!
(ये तुम्हे स्वतः ज्ञात होगा)
सम्मोहन टूटते है अक्सर -
बर्तन फेकने की आवाजों से!

आँगन और छत के लिए आयातित धूप
पसार दी जाती है,
शयनकक्ष की मेज पर!
रंगीन मेजपोश आत्ममुग्धता का कारण हो सकते हैं,
जब बुझ जाएगा तुम्हारी आँखों का सूरज!
(अगर डूबता तो फिर उग भी सकता था)

थोपी गई धार्मिक स्मृतियाँ विस्मृत कर देतीं हैं -
प्रतिरोध की आदिम कला!
इस घटना को आस्तिक होना कहा जाएगा!

तो सुनो स्त्री!
पुरुष स्पर्श की भाषा सुनो!
बस, हृदय कर्ज़दार न हो
तुम्हारे कान गिरवी न रख दिए जाएँ!
(होंठ उम्र भर सूद चुकाते रहेंगे)
दूब ताकतवर मानी गई है,
कुचलने वाले भारी भरकम पैरों से!
बीच समुन्दर,
अकेला जहाज,
मस्तूल पर तुम!
तुम्हारे पंख सजावट का सामान नहीं हैं!
थोपी गई स्मृतियाँ नकार दी जानी चाहिए!

आवारा कवि

अपनी आवारा कविताओं में -
पहाड़ से उतरती नदी में देखता हूँ पहाड़ी लड़की का यौवन!
हवाओं में सूंघता हूँ उसके आवारा होने की गंध!
पत्थरों को काट पगडण्डी बनाता हूँ!
लेकिन सुस्ताते हुए जब भी सोचता हूँ प्रेम तो देह लिखता हूँ!
जैसे खेत जोतता किसान सोचता है फसल का पक जाना!

और जब -
मैं उतर आता हूँ पूर्वजों की कब्र पर फूल चढाने -
कविताओं को उड़ा नदी तक ले जाती है आवारा हवा!
आवारा नदी पहाड़ों की ओर बहने लगती है!
रहस्य नहीं रह जाते पत्थरों पर उकेरे मैथुनरत चित्र!
चाँद की रोशनी में किया गया प्रेम सूरज तक पहुँचता है!
चुगलखोर सूरज पसर जाता पहाड़ों के आँगन में!
जल-भुन गए शिखरों से पिघल जाती है बर्फ़!
बाढ़ में डूब कर मर जाती हैं पगडंडियाँ!

मैं तय नहीं कर पाता प्रेम और अभिशाप के बीच की दूरी!
किसी अँधेरी गुफा में जा गर्भपात करवा लेती है आवारा लड़की!
आवारा लड़की को ढूँढते हुए मर जाता है प्रेम!
अभिशाप खोंस लेता हूँ मैं कस कर बाँधी गई पगड़ी में,
और लिखने लगता हूँ -
अपने असफल प्रेम पर "प्रेम की सफल कविताएँ"!

लेकिन -
मैं जब भी लिखता हूँ उसके लिए प्रेम तो झूठ लिखता हूँ!
प्रेम नहीं किया जाता प्रेमिका की सड़ी हुई लाश से!
अपवित्र दिनों के रक्तस्राव से तिलक नहीं लगाता कोई योद्धा!

दुर्घटना के छाती पर इतिहास लिखता हुआ युद्धरत मैं-
उस आवारा लड़की को भूल जाऊँगा एक दिन,
और वो दिन -
एक आवारा कवि का बुद्ध हो जाने की ओर पहला कदम होगा!

शब्द व्यंजना
एक साहित्यिक पहल
प्रवेशांक – मई २०१४

मैं कितना झूठा था !!

कितनी सच्ची थी तुम, और मैं कितना झूठा था!!!

तुम्हे पसंद नहीं थी सांवली ख़ामोशी!
मैं चाहता कि बचा रहे मेरा सांवलापन चमकीले संक्रमण से!
तब रंगों का अर्थ न तुम जानती थी, न मैं!

एक गर्मी की छुट्टियों में -
तुम्हारी आँखों में उतर गया मेरा सांवला रंग!
मेरी चुप्पी थोड़ी तुम जैसी चटक रंग हो गई थी!

तुम गुलाबी फ्रोक पहने मेरा रंग अपनी हथेली में भर लेती!
मैं अपने सीने तक पहुँचते तुम्हारे माथे को सहलाता कह उठता -
कि अभी बच्ची हो!
तुम तुनक कर कोई स्टूल खोजने लगती!

तुम बड़ी होकर भी बच्ची ही रही, मैं कवि होने लगा!
तुम्हारी थकी-थकी हँसी मेरी बाँहों में सोई रहती रात भर!
मैं तुम्हारे बालों में शब्द पिरोता, माथे पर कविताएँ लिखता!

एक करवट में बिताई गई पवित्र रातों को -
सुबह उठते पूजाघर में छुपा आती तुम!
मैं उसे बिखेर देता अपनी डायरी के पन्नों पर!

आरती गाते हुए भी तुम्हारे चेहरे पर पसरा रहता लाल रंग
दीवारें कह उठतीं कि वो नहीं बदलेंगी अपना रंग तुम्हारे रंग से!
मैं खूब जोर-जोर पढता अभिसार की कविताएँ!
दीवारों का रंग और काला हो रोशनदान तक पसर जाता!
हमने तब जाना कि एक रंग "अँधेरा" भी होता है!

रात भर तुम्हारी आँखों से बहता रहता मेरा सांवलापन!
तुम सुबह-सुबह काजल लगा लेती कि छुपा रहे रात का रंग!
मैं फाड देता अपनी डायरी का एक पन्ना!

मेरा दिया सिन्दूर तुम चढ़ाती रही गाँव के सत्ती चौरे पर!
तुम्हारी दी हुई कलम को तोड़ कर फेंक दिया मैंने!
उत्तरपुस्तिकाओं पर उसी कलम से पहला अक्षर टाँकता था मैं!
मैंने स्वीकार कर लिया अनुत्तीर्ण होने का भय!

तुमने काजल लगाते हुए कहा कि मुझे याद करोगी तुम!
मैंने कहा कि मैं कभी नहीं लिखूँगा कविताएँ!

कितनी सच्ची थी तुम, और मैं कितना झूठा था!!!

तय करना है

चाँद-सितारे, बादल, सूरज
आँख मिचौली खेल रहें हैं।
धरती खुश है,
झूम रही है।
झूम रहा है प्रहरी कवि-मन।
समय आ गया नए सृजन का।

खून सनी सड़कों पर-
काँटे उग आए हैं।
जीवन भाग रहा है नंगे पाँव –
मगर बचना मुश्किल है।
सन्नाटों का गठबंधन-
अब चीखों से है।

हृदयों के श्रृंगारिक पल में
छत पर चाँद उतर आता है।
कवि के कन्धे पर सर रखकर
मुस्काता है।
नीम द्वार का गा उठता है
गीत प्यार के।

कविताएँ नाखून बढाकर
घूम रहीं हैं।
नुचे हुए भावों के चेहरे
नया मुखौटा ओढ़ चुके हैं।
अट्टहास करती है नफरत
प्यार भरी कुछ मुस्कानों पर।

अलग-अलग से दो मंजर हैं,
किसको देखूँ?

जुदा-जुदा सी दो राहें हैं,
क्या होगा-
मेयार सफर का?

तय करना है !

ग़ज़ल-१

आह लिखो हुंकार लिखो कुर्बानी लिखना
बंद करो किस्सों में राजा रानी लिखना

सूखे खेतों की किस्मत में पानी लिखना
अब लिखना तो पीलेपन को धानी लिखना

और भी हैं रिश्तेयारों तुम छोडो भी
अब महबूबा के दर अपनी पेशानी लिखना

मानवता उन्वान भरा हो प्रेम कहन में
अपना जीवन ऐसी एक कहानी लिखना

जब भी तुम अपने लब पर मुस्कान लिखो
तब मेरे माथे पर भी कुछ ताबानी लिखना

जो कर दें दरबारी धार कलम की ऐसे
शाही फरमानों पर नाफरमानी लिखना

ग़ज़ल-२

जाग उठी सड़कें उन्हें बस सच बयानी चाहिए
कह दो संसद से न कोई लंतरानी चाहिए

देख तो ! मैं बिक गया उसकी वफ़ा के नाम पर
ऐ तिजारत ! अब तुझे नज़रें झुकानी चाहिए

मैं बना दूँ अपनी पेशानी पे सजदे की लकीर
तू बता तुझको दिलों पर हुक्मरानी चाहिए ?

धूप में जलना पड़े गाफिर सुबह से शाम तक
जिद है बच्चों की उन्हें कुछ जाफरानी चाहिए

प्यार है तो आ मेरे माथे पर अपना नाम लिख
जिक्र जब मेरा हो तेरी बात आनी चाहिए

कर खसारा मैं भरे बाज़ार से उठने को हूँ
कह रहे हैं लोग थोड़ी बेईमानी चाहिए

मैं भी चुप हूँ तू भी तन्हा सोच मत पत्थर उठा
तु भी खुश मेरे लहू को भी रवानी चाहिए

त्रिलोक सिंह ठकुरेला



जन्म-तिथि	:	01 -10 -1966
जन्म-स्थान	:	नगला मिश्रिया (हाथरस)
पिता	:	श्री खमानी सिंह
माता	:	श्रीमती देवी
प्रकाशित कृतियाँ	:	नया सवेरा (बाल-साहित्य) काव्यगंधा (कुण्डलिया संग्रह)
सम्पादन	:	आधुनिक हिंदी लघुकथाएं कुण्डलिया छंद के सात हस्ताक्षर कुण्डलिया कानन

सम्मान/पुरस्कार

राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा 'शंभू दयाल सक्सेना बाल साहित्य पुरस्कार'
पंजाब कला, साहित्य अकादमी, जालंधर (पंजाब) द्वारा 'विशेष अकादमी सम्मान'
विक्रमशिला हिन्दी विद्यापीठ गांधीनगर (बिहार) द्वारा 'विद्या-वाचस्पति'
हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 'वाग्विदाम्वर सम्मान'
राष्ट्रभाषा स्वाभिमान ट्रस्ट (भारत) गाज़ियाबाद (उ प्र) द्वारा 'बाल साहित्य भूषण '
निराला साहित्य एवं संस्कृति संस्थान, बस्ती (उ प्र) द्वारा 'राष्ट्रीय साहित्य गौरव सम्मान '
हिन्दी भाषा साहित्य परिषद्, खगड़िया (बिहार) द्वारा 'स्वर्ण सम्मान'

विशिष्टता	:	कुण्डलिया छंद के उन्नयन, विकास और पुनर्स्थापना हेतु कृतसंकल्प एवं समर्पित
सम्प्रति	:	उत्तर - पश्चिम रेलवे में इंजीनियर
संपर्क	:	बँगला संख्या - 99, रेलवे चिकित्सालय के सामने, आबू रोड- 307026 (राजस्थान)
चल-वार्ता	:	09460714267 / 07891857409
ई-मेल	:	trilokthakurela@gmail.com

त्रिलोक सिंह ठकुरेला की कुण्डलियाँ

(१)

रत्नाकर सबके लिये, होता एक समान।
बुद्धिमान मोती चुने, सीप चुने नादान।।
सीप चुने नादान, अज्ञ मूँगे पर मरता।
जिसकी जैसी चाह, इकट्ठा वैसा करता।
'ठकुरेला' कविराय, सभी खुश इच्छित पाकर।
हैं मनुष्य के भेद, एक सा है रत्नाकर।।

(२)

धीरे धीरे समय ही, भर देता है घाव।
मंजिल पर जा पहुँचती, डगमग होती नाव।।
डगमग होती नाव, अन्ततः मिले किनारा।
मन की मिटती पीर, टूटती तम की कारा।
'ठकुरेला' कविराय, खुशी के बजें मजीरे।
धीरज रखिये मीत, मिले सब धीरे-धीरे।।

(३)

बोता खुद ही आदमी, सुख या दुख के बीज।
मान और अपमान का, लटकाता ताबीज।।
लटकाता ताबीज, बहुत कुछ अपने कर में।
स्वर्ग नर्क निर्माण, स्वयं कर लेता घर में।
'ठकुरेला' कविराय, न सब कुछ यूँ ही होता।
बोता स्वयं बबूल, आम भी खुद ही बोता।।

(४)

तिनका तिनका जोड़कर, बन जाता है नीड़।
अगर मिले नेतृत्व तो, ताकत बनती भीड़।।
ताकत बनती भीड़, नए इतिहास रचाती।
जग को दिया प्रकाश, मिले जब दीपक, बाती।
'ठकुरेला' कविराय, ध्येय सुन्दर हो जिनका।
रचते श्रेष्ठ विधान, मिले सोना या तिनका।।

(५)

ताकत ही सब कुछ नहीं, समय समय की बात।
हाथी को मिलती रही, चींटी से भी मात।।
चींटी से भी मात, धुरंधर धूल चाटते।
कभी-कभी कुछ तुच्छ, बड़ों के कान काटते।
'ठकुरेला' कविराय, हुआ इतना ही अवगत।
समय बड़ा बलवान, नहीं धन, पद या ताकत।।

(६)

थोथी बातों से कभी, जीते गए न युद्ध।
कथनी पर कम ध्यान दे, करनी करते बुद्ध।।
करनी करते बुद्ध, नया इतिहास रचाते।
करते नित नव खोज, अमर जग में हो जाते।
'ठकुरेला' कविराय, सिखातीं सारी पोथी।
ज्यों ऊसर में बीज, वृथा हैं बातें थोथी।।

(७)

सारा जग अपना बने, यदि हो मृदु व्यवहार।
एकाकीपन झेलता, जिस पर दम्भ सवार।।
जिस पर दम्भ सवार, कठिन जीवन हो जाता।
रहता नहीं सुदीर्घ, कभी अपनों से नाता।
'ठकुरेला' कविराय, अन्ततः दम्भी हारा।
करो मधुर व्यवहार, बने अपना जग सारा।।

(८)

जुड़ जाते हैं जिस घड़ी, दिल के दिल से तार।
मन में खुशियाँ फूटतीं, भाता यह संसार।।
भाता यह संसार, उषा, खगकुल का कलरव।
नदिया, पेड़, पहाड़, चाँद, तारे सब के सब।
'ठकुरेला' कविराय, जगत के सब रस भाते।
लगता जगत कुटुम्ब, जब कभी मन जुड़ जाते।।

(९)

जलता दीपक जिस समय, तम हो जाता दूर।
प्रबल चाह, भरपूर श्रम, मिलती जीत जरूर।।
मिलती जीत जरूर, मंजिलें चलकर आतीं।
मिट जाते सब विघ्न, सुगम राहें हो जातीं।
'ठकुरेला' कविराय, सहज ही सिक्का चलता।
कर्मवीर के द्वार, दीप खुशियों का जलता।।

(१०)

जीवन से गायब हुआ, अब निच्छल अनुराग।
झाड़ी उगीं विषाद की, सूखे सुख के बाग।।
सूखे सुख के बाग, सरसता सारी खोई।
कंटक उगे तमाम, फसल यह कैसी बोई।
'ठकुरेला' कविराय, तोलते सब कुछ धन से।
यह कैसा खिलवाड़, कर रहे हम जीवन से।।

(११)

भूले अपनापन सभी, कैसी चली बयार।
दीवारें सहमी खड़ीं, बिखर रहे परिवार।।
बिखर रहे परिवार, स्वार्थ ने रंग जमाया।
रिश्ते हुए तबाह, सभी को धन ही भाया।
'ठकुरेला' कविराय, लोग निज मद में फूले।
भाया भौतिकवाद, संस्कृति अपनी भूले।।

(१२)

रीता घट भरता नहीं, यदि उसमें हो छेद।
जड़मति रहता जड़ सदा, नित्य पढ़ाओ वेद।।
नित्य पढ़ाओ वेद, बुद्धि रहती है कोरी।
उबटन करके भैंस, नहीं हो सकती गोरी।
'ठकुरेला' कविराय, व्यर्थ ही जीवन बीता।
जिसमें नहीं विवके, रहा वह हर क्षण रीता।।

संकलन



शेखर जोशी

10 सितंबर, 1932 को अल्मोड़ा (उत्तराखंड) के गाँव ओलियागांव के एक किसान परिवार में जन्मे शेखर जोशी कथालेखन को दायित्वपूर्ण कर्म मानते हैं। सन् 1953 में लिखी उनकी पहली कहानी 'दाज्यू' काफी चर्चित हुई। इस कालजयी कहानी का कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इस पर चिल्ड्रन फिल्म सोसायटी ने फिल्म का निर्माण किया।

शेखर जोशी जी का आभार कि उन्होंने यह कहानी यहाँ प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

दाज्यू

चौक से निकल कर बायीं ओर जो बड़े साइनबोर्ड वाला छोटा कैफे है वहीं जगदीश बाबू ने उसे पहली बार देखा था। गोरा-चिट्टा रंग, नीली शफ़्फ़ाफ आँखें, सुनहरे बाल और चाल में एक अनोखी मस्ती- पर शिथिलता नहीं। कमल के पत्ते पर फिसलती हुई पानी की बूँद की सी फुर्ती। आँखों की चंचलता देख कर उसकी उम्र का अनुमान केवल नौ-दस वर्ष ही लगाया जा सकता था और शायद यही उम्र उसकी रही होगी ।

अधजली सिगरेट का एक लंबा कश खींचते हुए जब जगदीश बाबू ने कैफे में प्रवेश किया तो वह एक मेज पर से प्लेटें उठा रहा था और जब वे पास ही कोने की टेबल पर बैठे तो वह सामने था। मानो, घंटों से उनकी, उस स्थान पर आने वाले व्यक्ति की, प्रतीक्षा कर रहा हो। वह कुछ बोला नहीं। हाँ, नम्रता प्रदर्शन के लिए थोड़ा झुका और मुस्कराया भर था, पर उसके इसी मौन में जैसे सारा 'मीनू' समाहित था। 'सिंगल चाय' का आर्डर पाने पर वह एक बार पुन: मुस्करा कर चल दिया और पलक मारते ही चाय हाजिर थी।

मनुष्य की भावनाएँ बड़ी विचित्र होती हैं। निर्जन, एकांत स्थान में निस्संग होने पर भी कभी-कभी आदमी एकाकी अनुभव नहीं करता। लगता है, उस एकाकीपन में भी सब कुछ कितना निकट है, कितना अपना है। परंतु इसके विपरीत कभी-कभी सैकड़ों नर-नारियों के बीच जनरवमय वातावरण में रह कर भी सूनेपन की अनुभूति होती है। लगता है, जो कुछ है वह पराया है, कितना अपनत्वहीन! पर यह अकारण ही नहीं होता। उस एकाकीपन की अनुभूति, उस अलगाव की जड़ें होती हैं- बिछोह या विरक्ति की किसी कथा के मूल में।

जगदीश बाबू दूर देश से आए हैं, अकेले हैं। चौक की चहल-पहल, कैफे के शोरगुल में उन्हें लगता है, सब कुछ अपनत्वहीन है। शायद कुछ दिनों रहकर, अभ्यस्त हो जाने पर उन्हें इसी वातावरण में अपनेपन की अनुभूति होने लगे। पर आज तो लगता है यह अपना नहीं, अपनेपन की सीमा से दूर, कितना दूर है! और तब उन्हें अनायास ही याद आने लगते हैं अपने गाँव-पड़ोस के आदमी, स्कूल-कालेज के छोकरे, अपने निकट शहर के कैफे-होटल...!

'चाय शा'ब!'

जगदीश बाबू ने राखदानी में सिगरेट झाड़ी। उन्हें लगा, इन शब्दों की ध्वनि में वही कुछ है जिसकी रिक्तता उन्हें अनुभव हो रही है। और उन्होंने अपनी शंका का समाधान कर लिया-

'क्या नाम है तुम्हारा?'

'मदन।'

'अच्छा, मदन! तुम कहाँ के रहने वाले हो?'

'पहाड़ का हूँ, बाबूजी!'

'पहाड़ तो सैकड़ों हैं- आबू, दार्जिलिंग, मंसूरी, शिमला, अल्मोड़ा! तुम्हारा गाँव किस पहाड़ में है?'

इस बार शायद उसे पहाड़ और जिले का भेद मालूम हो गया। मुस्कुराकर बोला-

'अल्मोड़ा, शा'ब अल्मोड़ा।'

'अल्मोड़ा में कौन-सा गाँव है?' विशेष जानने की गरज से जगदीश बाबू ने पूछा।

इस प्रश्न ने उसे संकोच में डाल दिया। शायद अपने गाँव की निराली संज्ञा के कारण उसे संकोच हुआ था, इस कारण टालता हुआ सा बोला, 'वह तो दूर है शा'ब अल्मोड़ा से पंद्रह-बीस मील होगा।'

'फिर भी, नाम तो कुछ होगा ही।' जगदीश बाबू ने जोर देकर पूछा।

'डोट्यालगों' वह सकुचाता हुआ-सा बोला।

जगदीश बाबू के चेहरे पर पुती हुई एकाकीपन की स्याही दूर हो गई और जब उन्होंने मुस्करा कर मदन को बताया कि वे भी उसके निकटवर्ती गाँव '........' के रहने वाले हैं तो लगा जैसे प्रसन्नता के कारण अभी मदन के हाथ से 'ट्रे' गिर पड़ेगी। उसके मुँह से शब्द निकलना चाह कर भी न निकल सके। खोया-खोया सा वह मानो अपने अतीत को फिर लौट-लौट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो।

अतीत- गाँव...ऊँची पहाड़ियाँ...नदी...ईजा (मां)...बाबा...दीदी...भुलि (छोटी बहन)...दाज्यू (बड़ा भाई)...!

मदन को जगदीश बाबू के रूप में किसकी छाया निकट जान पड़ी! ईजा?- नहीं, बाबा?- नहीं, दीदी,...भुलि?- नहीं, दाज्यू? हाँ, दाज्यू!

दो-चार ही दिनों में मदन और जगदीश बाबू के बीच की अजनबीपन की खाई दूर हो गई। टेबल पर बैठते ही मदन का स्वर सुनाई देता-

'दाज्यू, जैहिन्न...।'

'दाज्यू, आज तो ठंड बहुत है।'

'दाज्यू, क्या यहाँ भी 'ह्यूं' (हिम) पड़ेगा।'

'दाज्यू, आपने तो कल बहुत थोड़ा खाना खाया।' तभी किसी और से 'बॉय' की आवाज पड़ती और मदन उस आवाज की प्रतिध्वनि के पहुँचने से पहले ही वहाँ पहुँच जाता! आर्डर लेकर फिर जाते-जाते जगदीश बाबू से पूछता, 'दाज्यू कोई चीज?'

'पानी लाओ।'

'लाया दाज्यू', दूसरी टेबल से मदन की आवाज सुनाई देती।

मदन 'दाज्यू' शब्द को उतनी ही आतुरता और लगन से दुहराता जितनी आतुरता से बहुत दिनों के बाद मिलने पर माँ अपने बेटे को चूमती है।

कुछ दिनों बाद जगदीश बाबू का एकाकीपन दूर हो गया। उन्हें अब चौक, केफे ही नहीं सारा शहर अपनेपन के रंग में रंगा हुआ सा लगने लगा। परंतु अब उन्हें यह बार-बार 'दाज्यू' कहलाना अच्छा नहीं लगता और यह मदन था कि दूसरी टेबल से भी 'दाज्यू'...।

'मदन! इधर आओ।'

'आया दाज्यू!'

'दाज्यू' शब्द की आवृत्ति पर जगदीश बाबू के मध्यमवर्गीय संस्कार जाग उठे- अपनत्व की पतली डोरी 'अहं' की तेज धार के आगे न टिक सकी।

'दाज्यू, चाय लाऊँ?'

'चाय नहीं, लेकिन यह दाज्यू-दाज्यू क्या चिल्लाते रहते हो दिन रात। किसी की 'प्रेस्टिज' का ख्याल भी नहीं है तुम्हें?'

जगदीश बाबू का मुँह क्रोध के कारण तमतमा गया, शब्दों पर अधिकार नहीं रह सका। मदन 'प्रेस्टिज' का अर्थ समझ सकेगा या नहीं, यह भी उन्हें ध्यान नहीं रहा, पर मदन बिना समझाए ही सब कुछ समझ गया था।

मदन को जगदीश बाबू के व्यवहार से गहरी चोट लगी। मैनेजर से सिरदर्द का बहाना कर वह घुटनों में सर दे कोठरी में सिसकियाँ भर-भर रोता रहा। घर- गाँव से दूर, ऐसी परिस्थिति में मदन का जगदीश बाबू के प्रति आत्मीयता-प्रदर्शन स्वाभाविक ही था। इसी कारण आज प्रवासी जीवन में पहली बार उसे लगा जैसे किसी ने उसे ईजा की गोदी से, बाबा की बाँहों के, और दीदी के आँचल की छाया से बलपूर्वक खींच लिया हो।

परंतु भावुकता स्थायी नहीं होती। रो लेने पर, अंतर की घुमड़ती वेदना को आँखों की राह बाहर निकाल लेने पर मनुष्य जो भी निश्चय करता है वे भावुक क्षणों की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हैं। मदन पूर्ववत काम करने लगा।

दूसरे दिन कैफे जाते हुए अचानक ही जगदीश बाबू की भेंट बचपन के सहपाठी हेमंत से हो गई। कैफे में पहुँचकर जगदीश बाबू ने इशारे से मदन को बुलाया परंतु उन्हें लगा जैसे वह उनसे दूर-दूर रहने का प्रयत्न कर रहा हो। दूसरी बार बुलाने पर ही मदन आया। आज उसके मुँह पर वह मुस्कान न थी और न ही उसने 'क्या लाऊँ दाज्यू' कहा। स्वयं जगदीश बाबू को ही कहना पड़ा, 'दो चाय, दो ऑमलेट' परंतु तब भी 'लाया दाज्यू' कहने की अपेक्षा 'लाया शा'ब' कहकर वह चल दिया। मानों दोनों अपरिचित हों।

'शायद पहाड़िया है?' हेमंत ने अनुमान लगाकर पूछा।

'हाँ', रूखा सा उत्तर दे दिया जगदीश बाबू ने और वार्तालाप का विषय ही बदल दिया।

मदन चाय ले आया था।



'क्या नाम है तुम्हारा लड़के?' हेमंत ने अहसान चढ़ाने की गरज से पूछा।

कुछ क्षणों के लिए टेबुल पर गंभीर मौन छा गया। जगदीश बाबू की आँखें चाय की प्याली पर ही रह गईं। मदन की आँखों के सामने विगत स्मृतियाँ घूमने लगीं... जगदीश बाबू का एक दिन ऐसे ही नाम पूछना... फिर... दाज्यू आपने तो कल थोड़ा ही खाया... और एक दिन 'किसी की प्रेस्टिज का खयाल नहीं रहता तुम्हें...'

जगदीश बाबू ने आँखें उठाकर मदन की ओर देखा, उन्हें लगा जैसे अभी वह ज्वालामुखी सा फूट पड़ेगा।

हेमंत ने आग्रह के स्वर में दुहराया, 'क्या नाम है तुम्हारा?'

'बॉय कहते हैं शा'ब मुझे।' संक्षिप्त-सा उत्तर देकर वह मुड़ गया। आवेश में उसका चेहरा लाल होकर और भी अधिक सुंदर हो गया था ।

१५ जनवरी १९०२ को औटोमन साम्राज्य के पश्चिमी महानगर में जन्मे विख्यात कवि नाजिम हिकमत ने कविता, काव्य मुहावरा और भाषा के बारे में अपनी अलग धारणा विकसित की. उनका मानना था कि 'वही कला असली है जो जीवन को प्रतिबिंबित करे.' वे तुर्की की आज़ादी की लड़ाई में शामिल थे. इस दौरान उन्हें जेल भी जाना पड़ा और देश निकाला भी भोगना पड़ा था. जेल में रहते हुए उन्होंने अपनी पत्नी और बेटे के लिए बहुत ही नायब कविताएँ लिखीं. इस महान कवि की कुछ कविताएँ यहाँ प्रस्तुत हैं-



नाजिम हिकमत

मनहूस आज़ादी

तुम बेच देते हो –
अपनी आँखों की सतर्कता, अपने हाथों की चमक.
तुम गूंथते हो लोइयाँ जिंदगी की रोटी के लिये,
पर कभी एक टुकड़े का स्वाद भी नहीं चखते
तुम एक गुलाम हो अपनी महान आजादी में खटनेवाले.
अमीरों को और अमीर बनाने के लिये नरक भोगने की आज़ादी के साथ
तुम आजाद हो!

जैसे ही तुम जन्म लेते हो, करने लगते हो काम और चिंता,
झूठ की पवनचक्कियाँ गाड़ दी जाती हैं तुम्हारे दिमाग में.
अपनी महान आज़ादी में अपने हाथों से थाम लेते हो तुम अपना माथा.
अपने अन्तःकरण की आजादी के साथ
तुम आजाद हो!

तुम बेहद प्यार करते हो अपने देश को,
पर एक दिन, उदाहरण के लिए, एक ही दस्तखत में
उसे अमेरिका के हवाले कर दिया ज़ाता है
और साथ में तुम्हारी महान आज़ादी भी.
उसका हवाईअड्डा बनने की अपनी आजादी के साथ
तुम आजाद हो!

तुम्हारा सिर अलग कर दिया गया है धड़ से.
तुम्हारे हाथ झूलते है तुम्हारे दोनों बगल.
सड़कों पर भटकते हो तुम अपनी महान आज़ादी के साथ.
अपने बेरोजगार होने की महान आज़ादी के साथ
तुम आजाद हो!

वालस्ट्रीट तुम्हारी गर्दन ज़कड़ती है
ले लेती है तुम्हें अपने कब्ज़े में.
एक दिन वे भेज सकते हैं तुम्हें कोरिया,
ज़हाँ अपनी महान आजादी के साथ तुम भर सकते हो एक कब्र.
एक गुमनाम सिपाही बनने की आज़ादी के साथ
तुम आजाद हो!

तुम कहते हो तुम्हें एक इंसान की तरह जीना चाहिए,
एक औजार, एक संख्या, एक साधन की तरह नहीं.
तुम्हारी महान आज़ादी में वे हथकडियाँ पहना देते हैं तुम्हें.
गिरफ्तार होने, जेल जाने, यहाँ तक कि
फाँसी पर झूलने की अपनी आज़ादी के साथ
तुम आजाद हो.



तुम्हारे जीवन में कोई लोहे का फाटक नहीं,
बाँस का टट्टर या टाट का पर्दा तक नहीं.
आज़ादी को चुनने की जरुरत ही क्या है भला -
तुम आजाद हो!

सितारों भारी रात के तले बड़ी मनहूस है यह आज़ादी.

(अनुवाद- दिनेश पोसवाल)

जीने के बारे में

जीना कोई हंसी-मजाक नहीं,
तुम्हें पूरी संजीदगी से जीना चाहिए
मसलन, किसी गिलहरी की तरह
मेरा मतलब जिंदगी से परे और उससे ऊपर
किसी भी चीज की तलाश किये बगैर.
मतलब जिना तुम्हारा मुकम्मल कारोबार होना चाहिए.
जीना कोई मजाक नहीं,
इसे पूरी संजीदगी से लेना चाहिए,
इतना और इस हद तक
कि मसलन, तुम्हारे हाथ बंधे हों पीठ के पीछे
पीठ सटी हो दीवार से,
या फिर किसी लेबोरेटरी के अंदर
सफ़ेद कोट और हिफाज़ती चश्मे में ही,
तुम मर सकते हो लोगों के लिए—
उन लोगों के लिए भी जिनसे कभी रूबरू नहीं हुए,
हालांकि तुम्हे पता है जिंदगी
सबसे असली, सबसे खूबसूरत शै है.
मतलब, तुम्हें जिंदगी को इतनी ही संजीदगी से लेना है
कि मिसाल के लिए, सत्तर की उम्र में भी
तुम रोपो जैतून के पेड़—
और वह भी महज अपने बच्चों की खातिर नहीं,
बल्कि इसलिए कि भले ही तुम डरते हो मौत से—
मगर यकीन नहीं करते उस पर,
क्योंकि जिन्दा रहना, मेरे ख्याल से, मौत से कहीं भारी है.

II

मान लो कि तुम बहुत ही बीमार हो, तुम्हें सर्जरी की जरूरत है—
कहने का मतलब उस सफ़ेद टेबुल से
शायद उठ भी न पाओ.
हालाँकि ये मुमकिन नहीं कि हम दुखी न हों
थोड़ा पहले गुजर जाने को लेकर,
फिर भी हम लतीफे सुन कर हँसेंगे,
खिड़की से झांक कर बारीश का नजारा लेंगे
या बेचैनी से
ताज़ा समाचारों का इंतज़ार करेंगे....
फर्ज करो हम किसी मोर्चे पर हैं—
रख लो, किसी अहम चीज की खातिर.
उसी वक्त वहाँ पहला भारी हमला हो,
मुमकिन है हम औंधे मुंह गिरें, मौत के मुंह में.
अजीब गुस्से के साथ, हम जानेंगे इसके बारे में,
लेकिन फिर भी हम फिक्रमंद होंगे मौत को लेकर
जंग के नतीजों को लेकर, जो सालों चलता रहेगा.
फर्ज करो हम कैदखाने में हों
और वाह भी तक़रीबन पचास की उम्र में,
और रख लो, लोहे के दरवाजे खुलने में
अभी अठारह साल और बाकी हों
फिर भी हम जियेंगे बाहरी दुनिया के साथ,
वहाँ के लोगों और जानवरों, जद्दोजहद और हवा के बीच—
मतलब दीवारों से परे बाहर की दुनिया में,
मतलब, हम जहाँ और जिस हाल में हों,
हमें इस तरह जीना चाहिए जैसे हम कभी मरेंगे ही नहीं.
यह धरती ठंडी हो जायेगी,
तारों के बीच एक तारा
और सबसे छोटे तारों में से एक,
नीले मखमल पर टंका सुनहरा बूटा—
मेरा मतलब है, यह गजब की धरती हमारी.
यह धरती ठंडी हो जायेगी एक दिन,
बर्फ की एक सिल्ली के मानिंद नहीं
या किसी मरे हुए बादल की तरह भी नहीं
बल्कि एक खोंखले अखरोट की तरह चारों ओर लुढकेगी
गहरे काले आकाश में...
इस बात के लिये इसी वक्त मातम करना चाहिए तुम्हें
–इस दुःख को इसी वक्त महसूस करना होगा तुम्हें—
क्योंकि दुनिया को इस हद तक प्यार करना जरुरी है
अगर तुम कहने जा रहे हो कि “मैंने जिंदगी जी है”...

अंगरेजी से अनुवाद –दिगंबर

आशावाद

कविताएँ लिखता हूँ मैं
वे छप नहीं पातीं
लेकिन छपेंगी वे.
मैं इंतजार कर रहा हूँ खुशखैरियत भरे खत का-
शायद वो उसी दिन पहुँचे जिस दिन मेरी मौत हो
लेकिन लाजिम है कि वो आएगा.
दुनिया पर सरकारों और पैसे की नहीं
बल्कि अवाम की हुकूमत होगी
अब से सौ साल बाद ही सही
लेकिन ये होगा ज़रूर.

अंग्रेजी से अनुवाद –दिगंबर

शब्द – व्यंजना
www.shabdvyanjana.com
रचनाएँ प्रेषित करें : editor@shabdvyanjana.com
shabdvyanjana@gmail.com

चेन्नै के कप्पम बन्दरगाह पर सूर्योदय दर्शन



बलराम अग्रवाल

हम छः लोग थे मैं, धर्मपत्नी मीरा, बेटी अपेक्षा, दामाद विपिन, ज्येष्ठ पुत्र आकाश और हमारे मेज़बान श्रीरंग। समय, सुबह के 5◦50। बन्दरगाह की दृष्टि से देखा जाए तो उतनी सुबह उस माहौल को शान्त ही कहा जाएगा। पूर्णिमा के तुरन्त बाद वाली सुबह थी। सागर की लहरों ने चाँद की ओर उछल-उछलकर रात भर जो उत्पात मचाया होगा, जल की सीमा से दूर-दूर तक गीली नजर आ रही सागरतट की रेत इसकी गवाही देती नजर आ रही थी। चन्दा मामा के अन्तर्धान हो जाने के कारण सागर ने अपनी उछलकूद को यद्यपि काफी अनुशासित और सीमाबद्ध कर लिया था तथापि उसका दहाड़ना बदस्तूर जारी था। बावजूद इसके, जितने भी लोग थे, चुपचाप अपनी-अपनी गतिविधियों में व्यस्त थे। कोई जॉगिंग करने में, कोई सूर्य प्रणाम करने की तैयारी में, कोई व्यायाम करने में, कोई प्राणायाम करने में, कोई रंगभरे आकाश को कैमरे में उतारने में तो कोई सूर्योदय दर्शन के लिए अपना कैमरा सेट करने में। श्रीरंग की प्रशंसा करनी पड़ेगी कि वह बड़ी तन्मयता और आत्मीयता से हमें उस बन्दरगाह की विशेषताएँ बता और दिखा रहे थे। हमारे पास दो कैमरे थे। एक आकाश के पास , निकॉन के पॉवरफुल लैंसों से लैस बेहरीन क्वालिटी का और दूसरा मेरे पास अद्वितीय केनन का कामचलाऊ डिज़िटल।

रात्रि के अन्तिम प्रहर और प्रात: के प्रथम प्रहर के संधिकाल में सूर्यदेव जब पूर्वी क्षितिज के पाताल से ऊपर की ओर आने की यात्रा में होते हैं , तब पूर्वी आकाश पर खड़े रहते ; लेकिन जैसे ही वे भीतर की ओर सिमटतीं , दोनों श्वान उनके पीछे भागते। सागरतट पर यह श्वान-क्रीड़ा मैंने पहली बार देखी थी। मन ने कहा—मनुष्य ही नहीं, सृष्टि का हर प्राणी प्राकृतिक सुषमा के आकर्षण में आबद्ध है। प्रकृति असीम रूपों वाली है। वे सब-के-सब असीम रूप ज्यों के त्यों जीवधारियों में भी मौजूद हैं लेकिन जागृत नहीं हैं। उनमें से जिस-जिस रूप का जितना-जितना अंश जीवधारियों में जागृत है उतने-उतने ही वे उस सुषमा का आनन्द ले पाते हैं। इसी कारण से किसी को जंगल जड़ लगता है, किसी को चेतन। किसी को पर्वत पथरीले लगते हैं किसी को आकर्षक। किसी को सागर प्रेम-सा अथाह प्रिय लगता है किसी को मृत्यु-सा काला और भयंकर।

इनका यह सैर-सपाटा और खेलना-तैरना सुबह का उजाला अच्छी तरह फैल जाने, चल-पहल शुरू हो जाने से पहले तक लगातार चलता है। वे श्वान, जिन्हें हम सागर की लहरों के आकर्षण में बँधकर उनसे खेलता मान आनन्दित हो रहे थे, वस्तुत: अपनी पशु-प्रकृति के अनुरूप इन केकड़ों के आखेट की



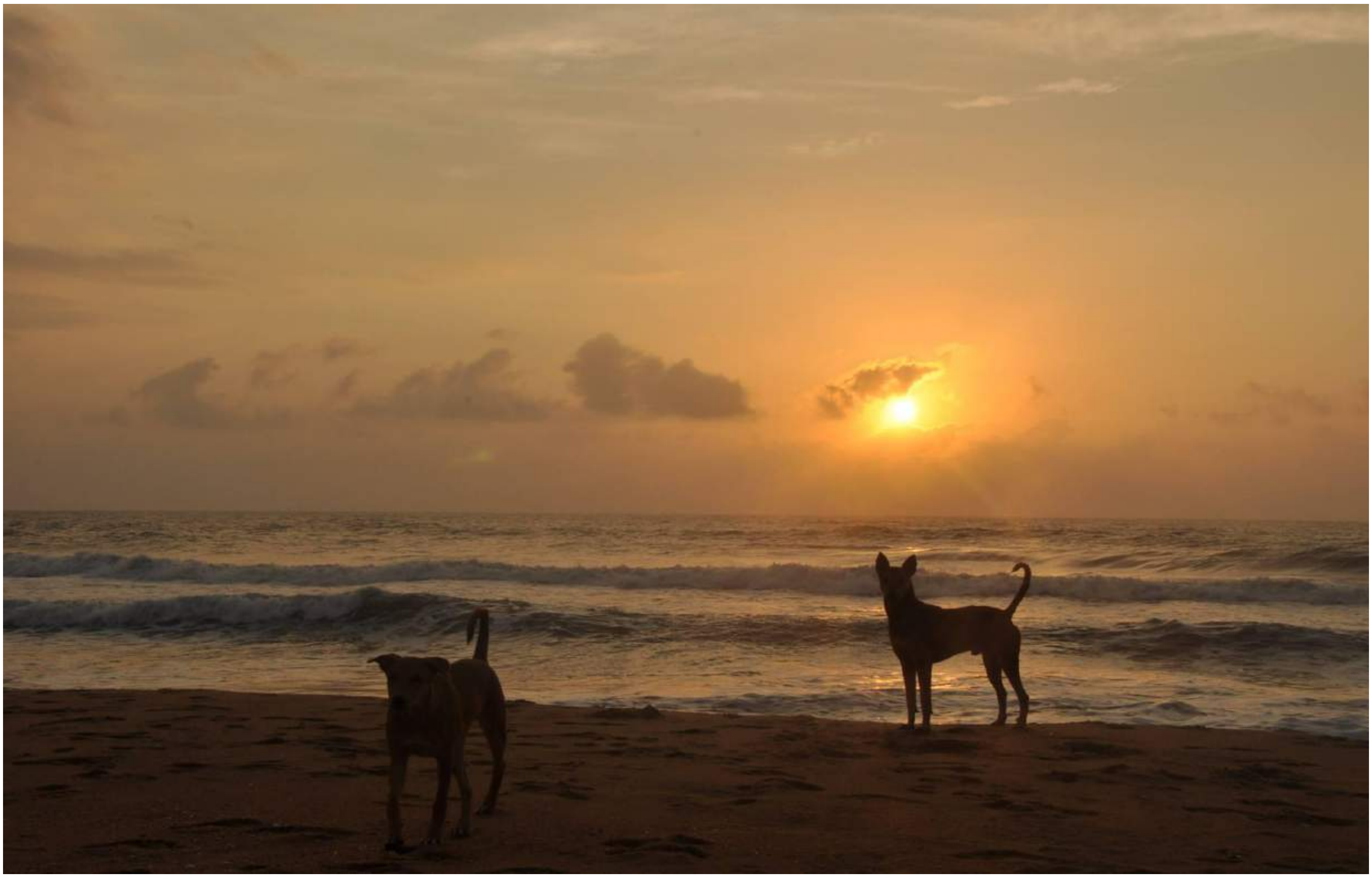
बहुरंगी हो उठता है , ऐसा मेरा अनेक बार का अनुभव है। उस समय , जब पूर्वी क्षितिज भी अपेक्षाकृत अन्धकारमय ही रहता है , ऊपरी आकाश के मेघ दिव्य रंगों से अपनी देह को चमकाते हुए सूर्यदेव के आगमन की घोषणा कर रहे होते हैं। उन रंगों की व्याख्या करना मुझ सरीखे रस और रंग की चेतना से विहीन प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए लेशमात्र भी संभव नहीं है। मुझे बस इतना महसूस होता है कि जैसे-जैसे भास्कर पाताल क्षेत्र से ऊपर आते हैं , आकाश के रंग वैसे-वैसे अधिक चमकीले और आकर्षक होने लगते हैं। संधिकाल के उस नीम उजाले में हमने दो युवा श्वानों को सागर की देह में वापस सिमटती लहरों का पीछा करते देखा। लहरें जब बाहर की ओर आतीं , वे समुचित दूरी बनाए तट

प्रक्रिया में रत थे।

इनका यह सैर-सपाटा और खेलना-तैरना सुबह का उजाला अच्छी तरह फैल जाने, चल-पहल शुरू हो जाने से पहले तक लगातार चलता है। वे श्वान, जिन्हें हम सागर की लहरों के आकर्षण में बँधकर उनसे खेलता मान आनन्दित हो रहे थे, वस्तुत: अपनी पशु-प्रकृति के अनुरूप इन केकड़ों के आखेट की प्रक्रिया में रत थे। यह बात हमारी समझ में दरअसल तब आई,

जब हमने उन कुत्तों को सागरतट की रेत में पंजो से खोदकर केकड़े तलाश करते देखा। हे ईश्वर! तूने ऐसी सृष्टि की रचना क्यों की जहाँ 'जीवो जीवस्य भोजनम्' कटु सत्य बनकर यत्र-तत्र-सर्वत्र आ उपस्थित होता है।

सूर्योदय के प्रथम दर्शन के समय दोनों ही केकड़ा-आखेटक आखेट छोड़कर हमारे कैमरों के सामने शान से जमे थे , इस बात का पता बाद में हमें तब चला जब अपने द्वारा खींचे सूर्योदय के फोटो हमने घर आकर देखे।



काफी समय तक हमारी चेतना दो ओर बँटी रही—केकड़ों के शिकार की चेष्टा में सागरतट पर लहरों के साथ आते-जाते केकड़ों का सावधानीपूर्वक पीछा करते और तट पर बने उनके बिलों को सूँघते-खोदते उन श्वानों की ओर तथा पूर्वी आकाश पर छाये मेघों के पीछे से शनैः शनैः प्रकट होने को चेष्टारत भगवान भास्कर की ओर। बिल्कुल वैसे, जैसे कि साधारण मनुष्य न तो सांसारिक मोह को त्याग पाता है और न ईश्वरीय सत्ता से ही जुड़ पाता है। लेकिन जैसे ही पूर्वी आकाश की बहुआयामी रक्ताभा ने स्वर्णाभा में परिवर्तित होना शुरू किया हमारी चेतना एकाग्र हो गई। प्रिय अथवा ईष्ट के दर्शन की अभिलाषा और उसे प्रकट होते देखने की जिज्ञासा किसे कहते हैं तथा वह कितनी प्रबल होती है, इस बात को वही जानता है जो इन प्रक्रियाओं से गुजरता है। हम सबकी स्थिति उस समय निःसंदेह उस साधक-जैसी थी जो चित्त को एकाग्र करने में सफल हो जाता है। उधर आकाश और इधर मैं अपना कैमरा लेकर चौकन्ने थे। भगवान भास्कर ने परदे के पीछे से हल्का-सा झाँका। हमने तुरन्त क्लिक किया। श्रीरंग ने पहले ही हमें चेता रखा था कि सारा खेल मात्र पाँच मिनट का होता है। परदे के पीछे से झाँकने से शुरू करके पूरी तरह सामने आने तक के आगामी लगभग पाँच मिनट हमने पूरी तरह भुनाए। कैमरों के शटर्स को चैन नहीं लेने दिया। साध्य की एक भी छवि, एक भी मुद्रा को हम छूट जाने नहीं देना चाहते थे।

वे दोनों उन फोटो में इस मुस्तैदी से खड़े थे जैसे कि सागर और सूर्य दोनों की रक्षा में तत्पर हों। उनमें से एक के अचानक दो फोटो हैं जिनमें वह झलक दिखलाते सूर्य और हहराते सागर तथा हम लोगों के बीच वीर योद्धा की तरह सिर उठाए , सीना और पूँछ ताने डटा खड़ा है। हाँ, यह भी हुआ कि सूर्योदय से कुछ पहले उनमें से एक ने किनारा कर लिया था और दूसरा, कैमरे के उस पार पूर्वी क्षितिज पर सूर्य को ताकते आकाश के सामने आ बैठा था ; बिल्कुल इस अन्दाज़ में कि हे मानव! जो सूर्य तेरी नजरों के सामने पूरी तरह स्पष्ट अभी है ही नहीं , उसके बजाय अपना ध्यान तू मुझ पर केन्द्रित कर जिसे महाभारतकार महर्षि व्यास ने इस धरा पर धर्म , निष्ठा और स्वामिभक्ति का जीवंत प्रतीक बताया है। और कमाल की बात यह हुई कि आकाश ने भी उसके इस दिव्य उद्बोधन को जैसे सुन लिया। फिर तो स्वर्गारोहण के समय भी साथ गये धर्मराज युधिष्ठिर के उस प्रिय साथी ने कभी फ्रंट पोज़ , कभी राइटसाइड तो कभी लेफ्टसाइड पोज़...तात्पर्य यह कि अलग-अलग मुद्राओं में अनेक चित्र आकाश से खिंचवाए।

ढाई आखर प्रेम का

ब्रह्म, माया और जीव के बाद 'प्रेम' शब्द मुझे सर्वाधिक रहस्यमय लगता है | मेरी धारणा और प्रबल हो जाती है जब मैं महात्मा कबीर की इन दो पंक्तियों की भावभूमि में प्रवेश करने का प्रयत्न करता हूँ और आश्चर्यचकित रह जाता हूँ कि काशी के इस तत्वद्रष्टा ने कितनी सहजता के साथ वेदांत दर्शन एवं अपने अनुभूतिजन्य सत्य के निचोड़ को हमारे समक्ष सूत्र रूप में रख दिया है | पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय |
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय ||'

यद्यपि इन रहस्यमयी पंक्तियों के सांकेतिक तत्व का निरूपण वृहद् विषय है तथापि मैं यहाँ सूत्र रूप में इतना कहना चाहता हूँ कि कबीर के पांडित्य का आधार यह रहस्यमय 'प्रेम' जब तक प्रकृति के सायुज्य में रहता है तब तक इसका स्वरुप द्वैत आभाषित होता है परन्तु पुरुष से जुड़ते ही यह भक्ति में परिवर्तित हो अद्वैत की दिव्य स्थिति को प्राप्त कर शांत हो जाता है |

'गावत बेद पुरान अष्ट दस | छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस ||' श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदास जी विरचित श्रीरामचरितमानस यद्यपि माया को द्वैत का कारण बताते हुए उसका रूप 'मैं अरु मोर तोर ते माया' तथा विस्तार 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई | तहँ लगि माया जानहु भाई ||' इंगित करता है परन्तु तत्व की बात उसके अद्वैत स्वरुप का संकेत 'कहियत भिन्न न भिन्न' के माध्यम से देते हुए स्पष्ट करता है कि-

'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी |
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की ||'

श्री मार्कंडेय पुराण का अंश श्री दुर्गासप्तशती के 'सप्तश्लोकी दुर्गा' का प्रथम मन्त्र भी कुछ इसी प्रकार का संकेत करता है | मन्त्र द्रष्टव्य है-

'ॐ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा | बलादाकृष्य मोहाय
महामाया प्रयच्छति ||'



डॉ. अनिल मिश्र

तत्वार्थ यह कि माया का मूल स्वरुप देवी भगवती के रूप में भगवान् के साथ अद्वैत का ही है | उसका लोक लुभावन परिधान 'मैं अरु मोर तोर ते मया' के रूप में मया का अशांत द्वैत स्वरुप को भाषित कराता है |तत्व द्रष्टा कबीर का 'ढाई आखर' जब जीव में भक्ति का दिव्य स्वरुप ग्रहण करता है तब निष्कपट निर्मल मन सम्पूर्ण समर्पण के साथ ब्रह्म में विलीन हो अद्वैत रूप में अवस्थित हो शांत हो जाता है | प्रेम का यही दिव्य स्वरुप भक्ति ज्ञान का मूल और कबीर का पांडित्य है और यही आत्मबोध है |

'जग शिवत्व से भर दे' काव्यकृति में मैंने इस तत्वज्ञान को आत्मसात करने का प्रयास निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से किया है-

"ज्यों ही मुझको ज्ञान हो गया...
मैं अपूर्ण हूँ या कि पूर्ण हूँ,
पंच तत्व का चेतन यौगिक |
विच्छेदित कर ज्ञान चक्षु से,
ज्यों ही किया अलौकिक, लौकिक |
माया की काया का न्यारा,
तार-तार परिधान हो गया |
ज्यों ही मुझको ज्ञान हो गया |
एक साथ ही दसों द्वार पर,
धू-धू कर जल उठीं चिताएं |
क्षण भर में ही भस्म हो गईं,
धर्म - कर्म की परिभाषाएं |
कोलाहल थम गया स्वयं औ'
हृदय शांति का धाम हो गया |
ज्यों ही मुझको ज्ञान हो गया |"



कबीर के पांडित्य और चेतना के आनंदमय कोष की परिधि के विषय ज्ञान, प्रेम और भक्ति के अद्वैत स्वरुप के सूक्ष्म निरूपण की इस बाल सुलभ चेष्टा के उपरांत हम लौकिक जगत में पुनः उतरते हैं | लौकिक जगत में भी जब तक लेन-देन, हानि-लाभ, गिला-शिकवा आदि सोच में शेष हैं तब तक तो प्रेम अस्तित्व में आया ही नहीं है | सत्य मानिये तब तक तो तथाकथित प्यार, व्यापार मात्र है | लौकिक जगत में विशुद्ध प्रेम का मेरी दृष्टि में सबसे उपयुक्त उदाहरण प्रसव वेदना सहने के उपरांत प्रसूता का छती से चिपकाये अपने नवजात शिशु को स्तनपान कराते हुये; ह्रदय, दृष्टि तथा रोम-रोम से बरसाते उस प्रेम का है, जहाँ न कोई चाह है, न कपट है, न गिला है, न शिकवा है |

प्रेम चाहे जिनके बीच हो, जच्चा-बच्चा, भाई-बहन, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, गुरु-शिष्य, चिड़िया-चुनमुन आदि, वह पैदा ही वहां होगा जहाँ सौदा नहीं होगा | एक शे'र नज़र करना चाहूँगा-

'अगर करना मुहब्बत तो कभी सौदा नहीं करना
यकीं मानो मुहब्बत में कभी सौदा नहीं होता'

और मुहब्बत का मर्म समझ में आते ही वफ़ाई-बेवफ़ाई का गिला-शिकवा भी समाप्त हो जाता है| शेर मुलाहिज़ा हो-

'जानता हूँ लोग उनको बेवफ़ा कहते हैं लेकिन
मैं अगर उनको वही कहने लगूं तो फिर वफ़ा क्या'

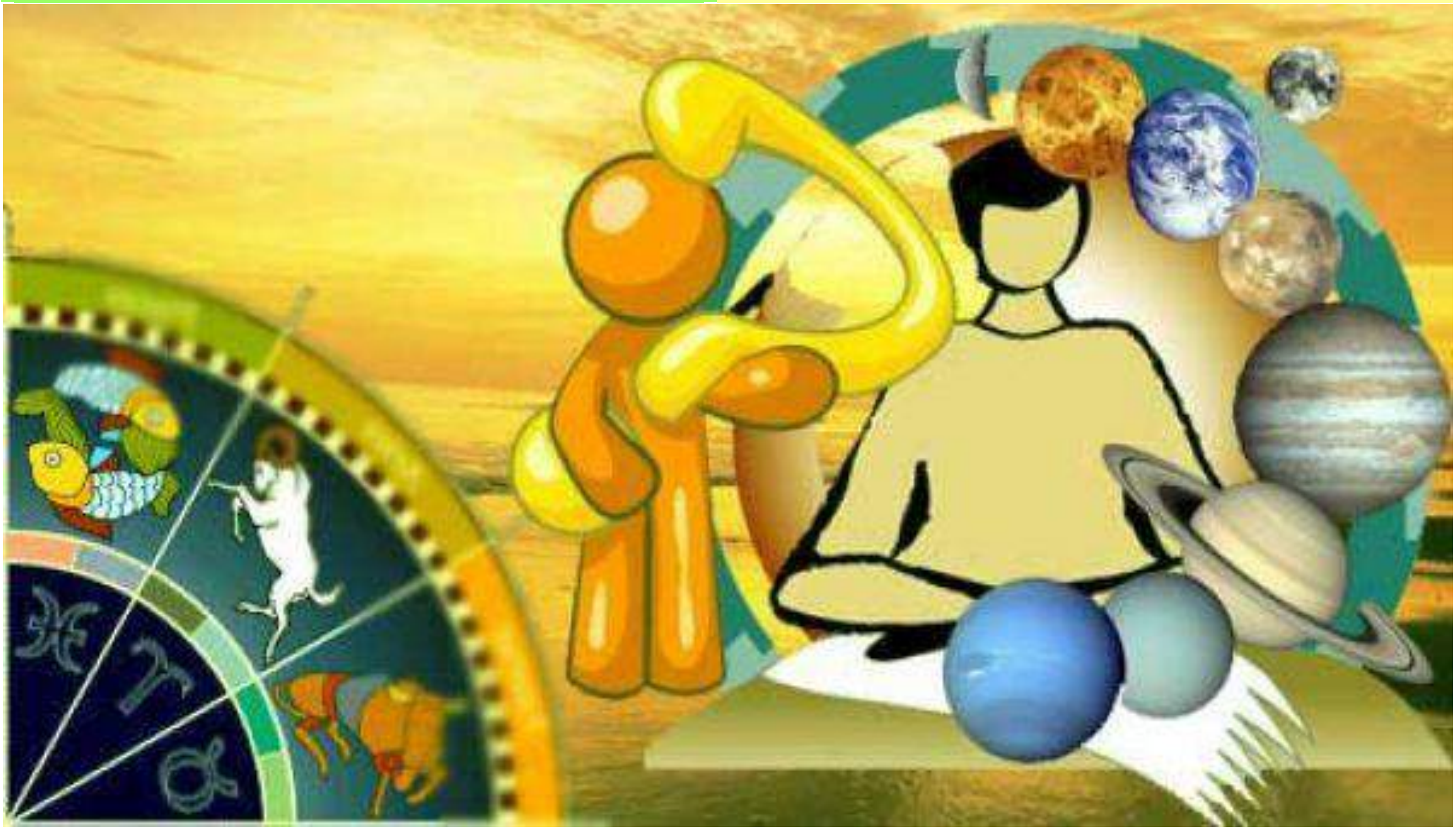
लौकिक जगत् में भी प्रेम का विस्तार 'अयं निजः परोवेति...से वसुधैव कुटुम्बकम' यानी व्यष्टि से समष्टि तक होते ही ऋषि के अनुभूति जगत् में मन्त्र गुंजित हो उठता है-

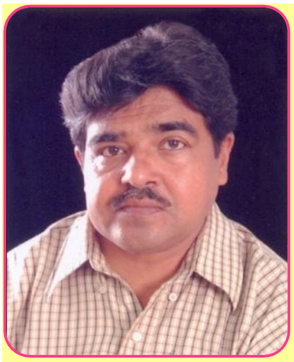
'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत् |'

और इसके ऊपर की स्थिति में जब प्रेम अपने दिव्य रूप 'भक्ति' के माध्यम से जीव को ब्रम्ह से जोड़ता है, तब क्या होता है यह उस फक्कड़ मस्त फ़क़ीर का 'ढाई आखर' ही आपको अनुभूति कराये इस कामना के साथ उसे ही दो पंक्तियाँ भावांजलि के रूप में अर्पित कर रहा हूँ-

'जब से पाया तुझे तभी से हाँ,
खुद को पाया न ढूँढने पर भी'

प्रेम के रहस्य को मैं जितना समझ पया हूँ, आप सभी को शब्द-सुमन के रूप मे सादर अर्पित कर रहा हूँ |





डॉ. हेमन्त कुमार

साहित्य हमेशा तमाम तरह के खतरों और विरोधाभासों के बीच लिखा जाता रहा है, और लिखा जाता रहेगा। लेकिन साहित्य तो अन्ततः साहित्य ही कहा जायेगा, उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम भले ही बदलता जाय। इधर काफ़ी समय से साहित्य जगत में इस बात से खलबली भी मची है और लोग चिन्तित भी हैं कि अन्तर्जाल का फ़ैलाव साहित्य को नुकसान पहुँचाएगा। लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक है। लेकिन क्या किसी नये माध्यम के चैलेंज का साहित्य का यह पहला सामना है? इसके पहले भी तो जब टेलीविजन पर सीरियलों का आगमन हुआ था, नये चैनलों की भरमार हुयी थी—क्या तब भी साहित्य के सामने यही प्रश्न नहीं उठे थे? तो क्या चैनलों के आने से साहित्य के लेखन या पठनीयता में कमी आ गयी थी? अगर आप पिछले दिनों को याद करें तो—'चन्द्रकान्ता' धारावाहिक के प्रसारण के बाद 'चन्द्रकान्ता सन्तति' उपन्यास तमाम ऐसे लोगों ने पढ़ा जिनसे कभी भी साहित्य का नाता नहीं रहा था। भीष्म साहनी का उपन्यास "तमस", मनोहर श्याम जोशी का "कुरु कुरु स्वाहा", "तमस" और "कक्का जी कहिन" धारावाहिकों के प्रसारण के बाद तमाम पाठकों ने उत्सुकतावश पढ़ा। तो टेलीविजन ने साहित्य के पाठक कम किये या बढ़ाये? ठीक यही बात मैं अन्तर्जाल या आभासी दुनिया के लिये भी कहूँगा। अन्तर्जाल के प्रसार और ब्लाग जैसे अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम की बढ़ती संख्या के साथ ही एक बार फ़िर साहित्य से जुड़े लोगों को तमाम तरह के खतरे नजर आने लगे हैं। उनके मन में तरह तरह की शंकाएँ जन्म लेने लगी हैं। जबकि मुझे नहीं लगता कि साहित्य को ब्लाग या अन्तर्जाल से किसी प्रकार का कोई खतरा हो सकता है क्योंकि किसी भी नये माध्यम के नफ़े नुक्सान दोनों ही होते हैं। अब यह तो साहित्यकारों के समूह पर है कि वह इस विशाल, वृहद आभासी दुनिया से क्या लेता है क्या छोड़ता है।



साहित्य के ऊपर इस आभासी दुनिया का सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही तरह का प्रभाव पड़ रहा है। सकारात्मक इस तरह कि —

इस आभासी दुनिया की वजह से दिग्गजों और मठाधीशों (साहित्य के अखाड़े के) की मठाधीशी अब खतम हो रही है। पहले जहाँ साहित्य कुछ गिने चुने नामों की धरोहर बन कर रह गया था वो अब सर्व सुलभ हो रहा है। आप देखिये कि जहाँ बहुत सारे नये लेखक, कवि—किसी पत्र पत्रिका में छपने को तरस जाते थे (मठाधीशी के कारण) वो आज इसी आभासी दुनिया के कारण ही प्रकाशित भी हो रहे हैं, पढ़े भी जा रहे हैं और अच्छा लिख भी रहे हैं।

आभासी दुनिया में हर रचना का तुरन्त क्विक रिस्पान्स मिलता है। अच्छा हो या बुरा तुरन्त आपको पता लगता है, आप उसमें परिवर्तन परिमार्जन भी कर सकते हैं। जब कि प्रिण्ट में ऐसा नहीं है। आपको लिखने के कई-कई महीने बाद अपनी रचना पर प्रतिक्रियायें मिलती हैं। आप आज लिखते हैं, हफ़्ते भर बाद किसी पत्र-पत्रिका में भेजते हैं। वह स्वीकृत होकर महीनों बाद छपती है। तब कहीं जाकर उस पर आपको पाठकीय प्रतिक्रिया मिलती है। जबकि आप ब्लाग पर या किसी सोशल

नेटवर्किंग साइट पर लिखते हैं तो वहाँ आपने रात में लिखा और और सुबह तक आपके पास प्रतिक्रियायें हाजिर। कुछ तारीफ़ की—कुछ सुझावों या वैचारिक मतभेद के साथ।

लेखक और प्रकाशक (प्रिण्ट माध्यम) दोनों अब आमने सामने हैं। आभासी दुनिया में जहाँ लेखक को पाठक उपलब्ध हैं वहीं आज आप देखिये कि प्रकाशक भी आसानी से अच्छे और नये लेखकों को अन्तर्जाल से लेकर छाप रहा है। ये हमारे साहित्य, साहित्यकारों, पाठकों सभी के लिये एक शुभ संकेत है।
जहाँ तक नकारात्मक प्रभाव की बात है---उसके खतरों से भी आप इन्कार नहीं कर सकते।

बहुत से रचनाकारों की रचनायें अच्छी और स्तरीय न रहने पर भी "वाह-वाह", "सुन्दर","प्रभावशाली" जैसी टिप्पणियाँ रचनाकार को नष्ट करने का काम कर रही हैं और इस बेवजह तारीफ़ का शिकार होकर कुछ रचनाकार अपने शुरुआती मेहनत और लगन के दौर में ही शायद ख़त्म हो सकते हैं।

ऐसे भी रचनाकार यहाँ आपको मिलेंगे जो सिर्फ़ यही तारीफ़ सुनने या अपना मनोरंजन करने के लिये कुछ भी लिख रहे हैं, जिसका साहित्य, समाज, देश के लिये या पाठकों के लिये भी कोई उपयोग नहीं। ऐसे साहित्य की भरमार होने पर इस आभासी दुनिया में से अच्छे रचनाकारों को खोजना अपेक्षाकृत कठिन हो जायेगा।

इसके बावजूद मेरा मानना यही है कि अन्तर्जाल ने आज साहित्यकारों, पाठकों और प्रकाशकों को आपस में इतना करीब ला दिया है कि अब प्रकाशित होना, पढ़ा जाना कोई समस्या नहीं और मुझे लगता है कि यदि इसे थोड़ा सा नियन्त्रण में रखा जाये तो यह आभासी दुनिया रचनाकारों, पाठकों, प्रकाशकों के बीच एक अच्छे और मजबूत सेतु का काम करेगी।

आज आप देख सकते हैं कि पूरे साहित्य जगत में ब्लाग, फ़ेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस की चर्चा हो रही है। हर महीने अगर आप नेट पर या अखबारों में देखें तो किसी न किसी शहर में आपको ब्लागर्स मीट सम्पन्न होने, किसी ब्लागर के सम्मानित होने, ब्लाग माध्यम पर आधारित किसी पुस्तक का विमोचन होने, ब्लाग्स पर किसी सेमिनार, संगोष्ठी की खबर जरूर पढ़ने को मिल जायेगी। मेरी जानकारी में कई विश्वविद्यालयों में भी इस नये माध्यम पर सेमिनार, संगोष्ठियों का आयोजन हुआ है। इसके अलावा भी विशुद्ध साहित्यिक संगोष्ठियों में भी अब इस माध्यम के बारे में थोड़ी बहुत चर्चायें तो हो ही रही हैं।

मुझे खुद नेट से जुड़े हुये लगभग तीन साल हुये हैं। मैं ब्लाग से तब परिचित हुआ जब अमिताभ बच्चन और शाहरुख का वाक युद्ध ब्लाग पर आया था। मैंने मित्र लोगों से पूछ-पूछ कर ब्लाग के बारे में जानकारी इकट्ठी की और इसकी मारक क्षमता को समझकर इससे जुड़ गया। आप आश्चर्य करेंगे जहाँ मेरे पाठक 2008 में सिर्फ़ भारत में थे वहीं आज की तारीख में दुनिया के हर देश में मेरे दो चार पाठक मौजूद हैं। यह सब इसी आभासी दुनिया का ही तो कमाल है और मुझे लगता है कि जिस रफ़्तार से हमारे देश में (पूरे विश्व की बात नहीं करूँगा) अन्तर्जाल पर ब्लाग्स, सोशल नेट्वर्किंग साइट्स, समूह, फ़ोरम बनते जा रहे हैं उससे यही प्रतीत होता है कि पूरे देश में एक तकनीकी क्रान्ति आ चुकी है जिससे जुड़ कर लोग एक दूसरे के काफ़ी करीब हो रहे हैं, एक दूसरे को सुन रहे हैं, समझ रहे हैं. इस आभासी दुनिया ने दूरियों को समाप्त कर दिया है और यह सही वक्त है देश को, समाज को, राष्ट्र को एक सही दिशा देने में इस आभासी दुनिया के सदुपयोग का। तभी हम सही मायनों में सूचना तकनीकी के सही लाभार्थी कहे जायेंगे।

डॉ. हेमन्त कुमार

आर एस-2/108 राज्य सम्पत्ति आवासीय परिसर

सेक्टर-21,इन्दिरा नगर,लखनऊ—226016

मोबाइल--09451250698

लघुकथा (जलेबी)



राहुल देव

सत्येन्द्र की शहर के बाजार में मिठाइयों की दुकान है। इसी इलाके में एक तेजतर्रार दारोगा की एकदम नई पोस्टिंग हुई. वह सुबह-सुबह ही उधर आ निकला। सत्येन्द्र की दुकान पर ताज़ी छन रही जलेबियाँ देखकर वह अपने को रोक न सका। इधर-उधर की बातें करते हुए उसने ढाई सौ ग्राम जलेबियाँ लीं और अखबार के पन्ने उलटते-पलटते सब चट कर गया। बोहनी न होने के बावजूद उसके रोबीले व्यक्तित्व को देखकर सत्येन्द्र कुछ बोल न सका। चलते-चलते दारोगा उसकी दूकान के बोर्ड की ओर देखकर भारी-भरकम आवाज़ में बोला, 'सत्येन्द्र स्वीट होम एंड आर्डर सप्लायर्स', अच्छा नाम है। हाँ तो सतेन्द्र भाई, चलता हूँ कभी काम पड़े तो याद करना।'

सत्येन्द्र ने सिर हिलाया और दारोगा जी खींसे निपोरते हुए चल दिए। उतने में इलाके का नम्बरी भाई उसकी दूकान पर आ धमका। उसने एक किलो जलेबियाँ तौलावाईं और बगैर पैसे दिए जाने को मुड़ा। सत्येन्द्र ने उसे रोका तो वह आँखें तरेरते हुए बोला, 'जादा चूं-चपड़ नई करने का, शाम को भाई लोग इदर आयेगा तो तेरा पईसा मिल जायेगा। अम अराम की नई खाता, अभी इदर पैसे नई हैं समझा क्या!'

सहसा सत्येन्द्र को पता नहीं क्या हुआ, उसने गला फाड़कर जाते हुए दारोगा साब को आवाज़ लगाई। साहब जी फ़ौरन लौट के आए। सत्येन्द्र ने जल्दी-जल्दी उन्हें सब स्थिति बता डाली। इस पर दारोगा जी भाई के ऊपर गरजे, 'क्यूँ बे! बाप का माल समझ रखा है क्या कि जब मन चाहा मुँह उठाते हुए चले आए। अब बहुत दिन ऐश कर लिए तुम सब, अब अन्दर जाने का टेम आया है। यों कहकर उन्होंने भाई की बाँह पकड़ी। इस पर भाई कुछ दबा लेकिन निर्भीकता से बोला, 'अरे साब क्यूँ मज़ाक करते हो, इदर कल शाम से अपुन भूका है एकदम सच बात, खा लेन दो न। आप भी खाओ, अम आपको कैसे भूल सकता है। वो क्या है न कि इदर मौसमी बेरोजगारी चल रई है सो अपुन का मामला एकदम ठंडा है नइ तो अपन आपके सामने तुरंत एकदम फंटास गाँधी जी को भेंट करता साब, अम इतना गिरा नई है।'

दारोगा साब उसे डाँटते हुए बोले, 'चल-चल, जलेबी रख! ज्यादा बातें न बना और दफा हो जा यहाँ से, दुबारा नज़र आया तो अन्दर कर दूँगा, समझा!'

'ठीक है साब, जैसी आपकी मर्ज़ी, कहीं और चला जाऊँगा। मैं भूल गया था कि यह आपका इलाका है!' यों कहकर वह वहाँ से भगा।

दारोगा साब ने हँसते हुए सत्येन्द्र से कहा, 'अरे, मेरे होते हुए तुम्हे चिंता करने की कोई जरुरत नहीं है। यह तो रोज का धंधा है और हाँ, आधा किलो जलेबी ज़रा और पैक कर दो घर के लिए। तुम्हारी भाभी जी और बच्चों को यहाँ की जलेबियाँ बहुत पसंद हैं।'

सत्येन्द्र क्या कहता, चुपचाप उसने आधा किलो जलेबियाँ तौलीं और दारोगा साब को ससम्मान विदा किया।

सत्येन्द्र उन्हें जाता हुआ देखता रहा फिर उसने हिसाब लगाया कि उसकी ढाई सौ ग्राम जलेबियाँ बच गयीं थीं, वह इसके आगे कुछ और भी सोचना चाहता था लेकिन सोच न सका। क्या करना उसे यह सोच वह चुपचाप अपने काम में लग गया।

- राहुल देव -

दीक्षित दनकौरी की पांच ग़ज़लें

हमने कब सुल्तानी चाही
तेरी रहमत पानी चाही

ज़ख़्मी सर लेकर लौटा है
हक़ की बात उठानी चाही

झुलसे हाथ दिखाने ही थे
तो क्यों आग बुझानी चाही

क्या गुज़री होगी आँगन पर
जब दीवार उठानी चाही

सारी उम्र मुक़दमेबाज़ी
रार नहीं सुलझानी चाही

मुफ़्त मिला सामान नहीं हूँ
मैं तुझ पर अहसान नहीं हूँ

तेरी एक ज़रुरत हूँ मैं
अनचाहा मेहमान नहीं हूँ

बंद न कर खिड़की दरवाज़े
मैं आँधी - तूफ़ान नहीं हूँ

मोल-भाव चाहे तो कर ले
राशन की दूकान नहीं हूँ

राज दिलों पर करता हूँ मैं
सरकारी सम्मान नहीं हूँ



दीक्षित दनकौरी

अपनों को अपना कर देख
जीवन भर पछता कर देख

साहिल चल कर आएगा
तूफ़ाँ से टकरा कर देख

जलता है वो सूरज सा
उससे आँख मिला कर देख

औरों का भी दर्द समझ
ख़ुद से बाहर आकर देख

तू मुझको बिसरा देगा
अच्छा चल बिसरा कर देख

बाज़ारे-नुमाइश में, मैं किरदार सँभालूँ
घर-बार सँभालूँ, कि तेरा प्यार सँभालूँ

इस दौरे-तरक़्क़ी में,बचानी है अना भी
रफ़्तार सँभालूँ ,कि मैं दस्तार सँभालूँ

काँटों से भरा ताज ये पहना तो दिया है
दरबार सँभालूँ, कि मैं सरकार सँभालूँ

तब्दील हुई जाती है तहज़ीब खंडर में
बुनियाद सँभालूँ ,कि मैं दीवार सँभालूँ

कश्ती का भरोसा है, न मांझी पे यक़ीन अब
फिर क्यों न उठूँ खुद ही,मैं पतवार सँभालूँ

देखो तो क्या नखरा है
जाने किसका मोहरा है

तेरे बिन जो गुज़रा है
लम्हा वो ही अखरा है

क्या-क्या भेद छुपाएगा
चेहरा आखिर चेहरा है

तेरी याद के साए में
एक मुसाफिर ठहरा है

फ़रियादी फ़रियाद न कर
हाकिम तेरा बहरा है

शब्द व्यंजना
एक साहित्यिक पहल
editor@shabdvyanjana.com

कवि, लेखक एवं वक्ता डॉ अनिल मिश्र ने हिंदी, भोजपुरी तथा अंग्रेजी में कई पुस्तकों का प्रणयन किया है| राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय सम्मान के अतिरिक्त डॉ मिश्र पर सन 2001 में लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ में 'डॉ अनिल मिश्र की साहित्य साधना' विषय पर शोध भी हो चुका है|

संपर्क- 510/133 न्यू हैदराबाद, लखनऊ-226007

ईमेल : dranilkmishra@gmail.com

डॉ अनिल मिश्र



ग़ज़ल-१

फूल की खुशबू बुलाना चाहते हैं आप को
हम खयालों में बसाना चाहते हैं आप को

ज़िन्दगी के गीत के आरोह औ' अवरोह में
साँस की सरगम बनाना चाहते हैं आप को

रूठने में औ' मनाने में कसम क्या लुत्फ़ है
रूठिये जी फिर मनाना चाहते हैं आप को

आइये लग के लबों से इक ग़ज़ल बन जाइये
शे'र पढ़-पढ़ गुनगुनाना चाहते हैं आप को

ग़ज़ल-२

इंकलाबी हाथ को गर्दन पकड़ते देखना
देखना पूरी व्यवस्था को सहमते देखना

नाक के ऊपर ज़रा पानी पहुँचने दीजिये
आब की तासीर तेज़ाबी बदलते देखना

भीड़ को जो भेड़ सा हाँका किये हैं उम्र भर
उनसे उनका अपना साया भी सरकते देखना

हैं हिफ़ाजत से रखे जिसको दरो-दीवार ये
दफ्न करने को उसे इनको दरकते देखना

है नहीं आसान यह आँखें फटी रह जायगीं
वक़्त को बेवक़्त पर करवट बदलते देखना



अस्तित्व अंकुर

ग़ज़ल-१

तुम्हारा दर्द भी क्या क्या कमाल करता है
रुला के आँख में मोती बहाल करता है,

तुम्हारा रेत पर भी नाम अब लिखूँ कैसे
मैं जानता हूँ समंदर बवाल करता है

न जाने कितने बुतों की मैं आजमाइश हूँ
मेरे वजूद पे पत्थर मलाल करता है

हो आसमां को मुबारक ये चाँद और तारे
मेरा चराग मेरी देख भाल करता है

मेरी शिकस्त के पीछे हज़ार चेहरे हैं
हर एक शख्स मेरा इस्तेमाल करता है

न पूछ मुझसे मेरा हाल-ए-बद अभी "अंकुर"
वो याद आते ही जीना मुहाल करता है

ग़ज़ल-२

जहां भी तुम्हें दिल के टुकड़े मिलेंगे
वहीं चंद मोती भी बिखरे मिलेंगे

मैं पहुँचा बुलंदी पे यूं ही नहीं हूँ
हरे हों न हों जख्म गहरे मिलेंगे

मेरे दिल की गहराइयों में जो उतरे
तो दरिया में सागर के कतरे मिलेंगे

नया इक नगर बस गया है जहां पर
कई गाँव भी तुमको उजड़े मिलेंगे

मेरे घर में इंसान मिलने हैं मुश्किल
कई बेज़ुबान और बहरे मिलेंगे

त'आल्लुक नहीं जिनसे अब मेरा कोई
वो बुनियाद में मेरी ठहरे मिलेंगे

भले सांस लेने में आती हो दिक्कत
मगर जब मिलोगे तो हंस के मिलेंगे

इसी चौक पर मेरी पूजा भी होगी
इसी चौक पर मुझपे पहरे मिलेंगे

तेरी शायरी और तेरे जख्म "अंकुर"
ग़ज़ल बन के सारे जहां से मिलेंगे

कुछ जरूरी बात



छोड़ो
गेंदे और गुलाब की बातें
बोगनबिलिया पर तो
मधुमक्खियाँ भी नहीं बैठतीं

चलो, बात करते हैं
ध्रुवों पर पिघलती बर्फ की
दरकती चट्टानों की
धँसती जमीन की

खोजते हैं कारण कि
क्यों बढ़ती जा रही है
घरों में दीवारों की सीलन;
हल्की से गर्मी में भी
क्यों पिघलती है सड़क

सोचते हैं
साँसों में बढ़ती खड़खड़ाहट
गले में रुंधती आवाज़
आसमान के बदलते रंग के बारे में

इस कठिन समय में
जब पेड़ों से पत्ते लगातार झड रहे हैं
सीना कफ़ से जकड गया है
बाजू कमजोर हो रहे हैं,
कविता को
सुन्दर फ्रेम में मढ़कर
ड्राइंग रूम में सजाने के बजाय
करनी है कुछ जरूरी बात.

जाति धर्म से बढ़कर जिसको प्रिय है देश वही नेता है,
जिसके मन में लालच, भय न रहा अवशेष वही नेता है.
जो नेता सुभाष, आजाद, भगत सी कुर्बानी दे सकता हो.
जो विकास, सुख, शांति का ले आये सन्देश वही नेता है.

मन्दिर मन्दिर, मस्जिद मस्जिद ढूँढा मुझको ना धर्म मिला,
टहला घूमा मैं धर्म नगर मुझको न कृष्ण का कर्म मिला.
धार्मिक उन्मादों दंगों ने जाने कितने जीवन निगले,
मुझको तो मानवता में ही मानव जीवन का मर्म मिला.

मनोज शुक्ल 'मनुज'





कवि-"राज बुन्देली"

ग़ज़ल-१

वफ़ा है ग़र ज़हां में तो हमें भी आज़माना है ॥
फ़रेबी है ज़माना ग़र पता सच का लगाना है ॥१॥

कटे जो शीश सैनिक के सभी से पूछते धड़ वो,
बता दो हिन्द का कितना हमें कर्जा चुकाना है ॥२॥

कहें रो कर शहीदों की मज़ारों के सुमन देखो,
नहीं है लाज सत्ता को फ़कत दामन बचाना है ॥३॥

हमारे ख़ून से लथ-पथ, हुये इतिहास के पन्ने,
हमेशा मुल्क की ख़ातिर, हमें जीवन लुटाना है ॥४॥

मिले ये चन्द वादे हैं, हमारे खून की कीमत,
शहीदों की शहादत पर, यही मरहम लगाना है ॥५॥

शराफ़त की करे बातें, मग़ज में रंज पाले है,
शरीफ़ों का तरीका ये, बड़ा ही कातिलाना है ॥६॥

चुनौती है तुझे तेरे, अक़ीदे की इबादत की,
खुले मैदान में आजा, अगर जुर्रत दिखाना है ॥७॥

नहीं देते दिखाई अब, यहाँ जो लोग कहते थे,
मुहब्बत थी मुहब्बत है, मुहब्बत का ज़माना है ॥८॥

शियासत मौन बैठी है पहन कर चूड़ियाँ देखो,
शहादत से बड़ा उनकी नज़र में वोट पाना है ॥९॥

कभी कोई बताता ही,नहीं है "राज" मुझको ये,
हमारे देश का रुतबा, हुआ अब क्यूँ ज़नाना है ॥१०॥

वर्तमान व्यवस्था में बाज़ारवाद से बचा नहीं जा सकता इसलिए साहित्य की मुक्त-बाज़ारी व्यवस्था से मुकाबला करने के लिए गुणात्मक तथा मात्रात्मक दोनों तरह से मुकाबला करना पड़ेगा। अच्छे साहित्य की मार्केटिंग भी जरूरी है साथ ही स्तरहीन साहित्य को नकारते हुए उस पर प्रहार करना बहुत आवश्यक है, अन्यथा साहित्य के नाम पर फूहड़ता, चुटकुले, मंचीय भँड़ैती ही दिखायी देगी जिसके पैरोकार योजनाबद्ध तरीके से एकजुट हैं और अच्छे रचनाकारों को साहित्य से बेदखल करते रहेंगे।

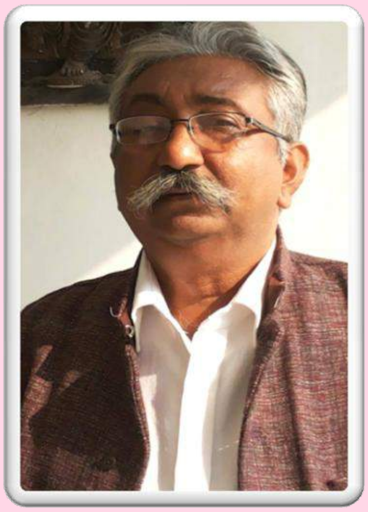
मेरा मानना है कि साहित्य में गुणवत्ता के समर्थक एकजुट होकर बाज़ारवाद के द्वारा ही मुकाबला करें और प्रतिस्पर्धा से बचें नहीं बल्कि पूरी आक्रामकता के द्वारा हिस्सा लें। यहाँ पूँजी का प्रश्न उपस्थित हो जाता है जिसका समाधान सहकारिता को अपना कर किया जा सकता है।

-जगदीश पंकज -

आज कहीं पढ़ रही थी कि-- 'समाज के किसी भी जीवन पक्ष को देखें हम पाते हैं कि साहित्य और साहित्यकार के लिए आज भी वह जगह नहीं है जो होनी चाहिए. हिन्दी में आज भी ऐसे लेखक न के बराबर हैं जो केवल लिख कर, अपनी जीविका चला सकें. साहित्य ही एक ऐसी आवाज है जो समाज के बंद दरवाजों पर दस्तक देती है, उन्हें पीटती है और कहती है कि.. तुम्हारी आत्मा नष्ट हो रही है जागो! इक्का दुक्का अपवादों को छोड़ दें तो यह आवाज़ अब केवल साहित्य की आवाज है..! कला यानि चित्र, संगीत, मूर्तिशिल्प आदि तो पहले से ही हिन्दी समाज में हाशिए के भी बाहर रहे हैं, आज भी हैं.

ऐसा नहीं है कि अर्जेंटीना का समाज भारत से कोई अधिक विकसित और ज्ञानवान समाज है, लेकिन वहाँ बोर्खेज जैसे गूढ़ लेखक के प्रति भी जो सम्मान है वो चकित करता है. एक बार जब बोर्खेज कचहरी से बाहर निकल रहे थे तो भारी भीड़ जमा हो गयी और औरतों-बच्चों ने एक दूसरे से कहा कि 'मैंने बोर्खेज को छुआ है'... हिन्दी समाज में क्या ऐसा हुआ कभी? क्या कभी अपने प्रिय लेखक को छूकर खुश हुआ कोई...?'
(मैं तो हुई..)

सुशीला पुरी



प्रदीप कुमार सिंह कुशवाहा

आदमी

ऊँची ऊँची अट्टालिकाएँ
बौने लोग
विकृति और स्वभाव
एक-दूसरे के पर्यायवाची

चाहरदीवारी के मध्य
शून्य
वर्जनाओं के टूटने का
उदघोष
खामोशी से सुनते हुए

ध्वनि-प्रतिध्वनि
संज्ञा-शून्य
आहत भावनाएँ
रिसता खून
अँगुलियों से चाटते हुए
ये भी नमकीन है
अपनों के लहू जैसा

कल और आज

ईंट-गारे से चुनी
ऊँची-ऊँची दीवारें
आँगन में खुलते द्वार
तुलसी चौरा केन्द्र बिंदु
कुट्टी काटती चाची
रंभाती गाय
कोने में जलता चूल्हा
रोटी की सोंधी सुगंध
टूटी खाट पर दादी से लिपटे बच्चे
किस्से-कहानी सुनते हुए
नृत्य करता जीवन
फलती-फूलती भारतीय संस्कृति
कंगूरे पर बैठे कपोत
आज भी गवाह हैं

दरकती दीवारें
उनसे लटकती घास
रिश्तों को नया आयाम देता
क्षत-विक्षत तुलसी चौरा
बरसों से बंद द्वार
मौत के सन्नाटे को चीरती
जीवन का एहसास कराती
झींगुरों की ध्वनि

विनष्ट होती संस्कृति
रिश्तों की मिठास
काली रात में ढूँढते जुगनू
आज भी गवाह हैं



अरुण कुमार निगम

सोलह की महिमा में सोलह पंक्तियाँ

सोलह -सोलह लिये गोटियाँ,खेल चुके शतरंजी चाल
सोलह - मई बताने वाली ,किसने कैसा किया कमाल

सोलह कला सुसज्जित कान्हा ने छेड़ी बंसी की तान
सबका जीवन सफल बनाने,सिखलाया गीता का ज्ञान

मानव जीवन में पावनता , मर्यादा के हैं आधार
ऋषियों मुनियों के बतलाये, जीवन में सोलह संस्कार

सोलह - सोमवार व्रत करके , पाओ मनचाहा भरतार
सोलह आने जब मिल जाते, तब लेता रुपिया आकार

उम्र शुरू हो सोलह की तो , आता अपने आप निखार
बीत गई तब जीवन भर के , साथी हैं सोलह श्रृंगार

सोलह चंद्र - कलायें होतीं, तब दुल्हन सी सजती रात
बरगद - पीपल हरदम कहते, सोलह आने सच्ची बात

सोलह - सोलह मात्राओं की, चौपाई मन खूब सुहाय
सोलह – सोलह वर्णों वाली,रूप – घनाक्षरी मन भाय

सोलह की महिमा को गाये,दुर्ग-नगर का अरुण कुमार
छंद आपके मन भाया तो, प्रकट कीजिये मित्र विचार ||



कुंडलिया छंद - 1

जीता नेकी ने सुनो, सदा बदी से युद्ध
जहाँ अंगुलीमार हैं , वहाँ हमेशा बुद्ध
वहाँ हमेशा बुद्ध ,सबेरा निश्चित आये
धूपछाँव का खेल-, यही जीवन कहलाये
स्वयं जलाकर देह, सूर्य अँधियारा पीता
सदा बदी से युद्ध, सुनो नेकी ने जीता |



कुंडलिया छंद – 2

मेवा देने के लिये , खुद सहते हैं चोट
जग में सम्मानित हुए,श्रीफल औ' अखरोट
श्रीफल औ' अखरोट,कठिन होता है बनना
यूँ ही मुश्किल जोकर के परिधान पहनना
अपना कर परिहास , करते जोकर सेवा
खुद सहते हैं चोट , बाँटते सबको मेवा ||



अरुन शर्मा 'अनन्त'

ग़ज़ल

मध्य अपने आग जो जलती नहीं संदेह की,
टूट कर दो भाग में बँटती नहीं इक जिंदगी.

हम गलतफहमी मिटाने की न कोशिश कर सके,
कुछ समय का दोष था कुछ आपसी नाराजगी,

आज क्यों इतनी कमी खलने लगी है आपको,
कल तलक मेरी नहीं स्वीकार थी मौजूदगी,

यूँ धराशायी नहीं ये स्वप्न होते टूटकर,
आखिरी क्षण तक नहीं बहती ये आँखों की नदी,

रात भर करवट बदलना याद करना रात भर,
एक अरसे से यही करवा रही है बेबसी.

बोल, भावों के विहंगम!



विन्दु बाबू

तेरे फड़फड़ाते पंखों की छुअन से,
ऐ परिंदे!
हिलोर आ जाती है
स्थिर, अमूर्त सैलाब में,
छलक जाता है
चर्म-चक्षुओं के किनारों से
अनायास ही कुछ नीर.

हवा दे जाते हैं कभी
ये पर तुम्हारे
आनन्द के उत्साह-रंजित
ओजमय अंगार को,
उतर आती है
मद्धम सी चमक अधरोष्ठ तक,
अमृत की तरह.

बिखरते हैं जब,
सम्वेदना के सुकोमल फूल से पराग
तेरे आ बैठने से
चेतना फूँकती है सुगंधी
जड़, जीर्ण और...अचेतन में.

बोल, भावों के विहंगम!
है कहाँ तेरा घरौंदा?
कण-कण में या हृदय में,
या फिर दूर...
यथार्थ के उस यथार्थ में
जो, कई बार अननुभूत रह जाता है.



आँखों देखी-1



डॉ. शरदिन्दु मुकर्जी

09 नवम्बर 1951 को सीतापुर, उत्तर प्रदेश में जन्मे शरदिन्दु मुकर्जी भू-वैज्ञानिक होने के साथ ही बांग्ला तथा हिंदी के एक अच्छे साहित्यकार भी हैं. इन्हें "फ़िल्चनर शेल्फ़" तथा के दुर्गम क्षेत्र में पहुँचने वाले पहले भारतीय होने का गौरव प्राप्त है. "फ़िल्चनर शेल्फ़" तथा "बर्कनर आईस राईस (बर्कनर द्वीप)" पर इन्होंने हिमनदीय अध्ययन किया. ये "मोल्टके नूनाटक" के दुर्गम क्षेत्र में पहुँचने वाले तीन सदस्यीय प्रथम मानव दल के सदस्य थे. इन्होंने इस क्षेत्र का भूवैज्ञानिक अध्ययन किया.

शरदिंदु मुकर्जी अंटार्कटिका में भारतीय वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य के साथ सम्बद्ध रहे. ये नवें शीतकालीन दल के स्टेशन कमाण्डर तथा ग्यारहवें भारतीय अभियान दल के नेता थे. अंटार्कटिका में इनके योगदान के लिये 2004 के 'राष्ट्रीय खनिज पुरस्कार' से इन्हें सम्मानित किया गया.

बात फ़रवरी 1986 की है. भारत का पाँचवा वैज्ञानिक अभियान दल अंटार्कटिका में अपना काम समाप्त कर चुका था. शीतकालीन दल के सभी 14 सदस्य भारतीय अनुसंधान केंद्र "दक्षिण गंगोत्री" में पहुँच चुके थे. इस दल को अगले एक वर्ष तक यहीं रहना था. ग्रीष्मकालीन दल के अधिकांश अभियात्री 15 किलोमीटर दूर खड़े जहाज "एम.वी. थुलीलैण्ड" में थे. मौसम बेहद खराब हो जाने की वजह से एक दो वैज्ञानिक जहाज में नहीं पहुँच पाये थे. कुछ और औपचारिकताएँ बाकी थीं...इंतज़ार था मौसम के ठीक होने का. मौसम का आलम यह था कि हवा लगभग 80 किलोमीटर प्रति घंटा की रफ़्तार से बह रही थी और बर्फ़ के सूखे कण उड़ा रही थी. इन उड़ते बर्फ़ के कणों की वजह से ज़मीन से लगभग 12 फीट ऊपर तक कुछ भी नहीं दिख रहा था. दृष्टि ऐसे बाधित हो रही थी कि अपना हाथ सीधे फैलाने से उनमें पहने हुए दस्ताने भी नहीं दिख रहे थे.

अचानक दल के एक वरिष्ठ सदस्य जो भारतीय सेना के अधिकारी थे, गम्भीर रूप से बीमार पड़ गए. शीतकालीन दल के डॉक्टर ने उनकी परीक्षा की तथा परिस्थिति को देखते हुए जहाज में उपस्थित अन्य दो डॉक्टरों से विचार-विमर्श करने की इच्छा व्यक्त की. अभियान दल के नेता भी जहाज में ही थे. उन्हें भी सूचित करना अनिवार्य था. उन दिनों मोबाईल फोन की सुविधा नहीं थी और न ही ई-मेल या स्काइप के माध्यम से सम्पर्क व्यवस्था. लगातार कोशिश करने के बावजूद "दक्षिण गंगोत्री" में उपलब्ध बेतार तथा सैटेलाईट फोन द्वारा सम्पर्क नहीं हो पा रहा था. इमरजेंसी चैनेल पर कोशिश करने पर सुदूर अट्लांटिक समुद्र मे ब्राज़ील के पास खड़े एक जहाज के कप्तान ने हमारी पुकार सुनी. वे सहायता करने को तत्पर थे लेकिन उनका हम तक पहुँचना नामुमकिन था. अंततः "थुलीलैण्ड" से सम्पर्क हुआ और अभियान दल के नेता ने सूचित किया कि वे दोनों डॉक्टर तथा अन्य सहायता लेकर शीघ्रातिशीघ्र पहुँच रहे हैं. खराब मौसम होते हुए भी भारतीय नौसेना के पायलट नन्हे चेतक हेलिकॉप्टर लेकर आने की तैयारी में जुट गए. "दक्षिण गंगोत्री" में लैण्ड करते वक़्त उन्हें नीचे कुछ भी नहीं दिखता, अत: एक दल को स्टेशन के बाहर भेजा गया ताकि वे हेलिकॉप्टर को उतरने में मदद कर सकें. मुझे आदेश हुआ था कि मैं स्टेशन की छत पर बैठकर पूरी गतिविधि पर नज़र रखूँ. बड़ी मुश्किल से जब मैं "दक्षिण गंगोत्री" की छत पर चढ़ा तो सामने का दृश्य देख हैरान रह गया. तेज़ तूफान के बावजूद उड़ते बर्फ़ के कण अब मेरी दृष्टि को बाधित नहीं कर रहे थे क्योंकि मैं ज़मीन से 15 फीट ऊपर था. समुद्र की तरफ मैंने देखा कि आसमान में एक जहाज उल्टा लटका हुआ है. वास्तव में, मैं "थुलीलैण्ड" की मरीचिका देख रहा था. इसे 'मिराज इफेक्ट' कहते हैं और अंटार्कटिका के ठण्डे रेगिस्तान में ऐसा अक्सर देखा जाता है. देखते ही देखते उस जहाज के डेक से एक लाल बत्ती नीचे की ओर लुढ़कती नज़र आई..... अर्थात हेलिकॉप्टर ने उड़ान भरी. क्योंकि मैं मरीचिका देख रहा था, कुछ सेकण्ड के लिये लाल बत्ती नीचे आती दिखी. फिर जैसे ही हेलिकॉप्टर क्षितिज से ऊपर आया मैंने उसे स्वाभाविक रूप में देखा. पाँच मिनट से भी कम समय में सब लोग पहुँच गए और नई कहानियाँ लिखी जाने लगीं. मेरे अनुभव की झोली भी भरनी शुरु हो गयी थी.



जो उस दिन मैंने देखा था उसका चित्र सिर्फ मेरे मस्तिष्क में है. तीन वर्ष से अधिक समय मैंने बिताया है अंटार्कटिका के बर्फीले रेगिस्तान में......कितने अद्भुत अनुभव हुए.....ऐसे अनुभव जिन्हें पृथ्वी के और किसी भाग में सोचा भी नहीं जा सकता. आने वाले समय में मैं आपसे उन बातों को साझा करूँगा जिनके कारण जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया.

डॉ. शरदिन्दु मुकर्जी
37, रोहतास एंक्लेव, फैज़ाबाद रोड, लखनऊ–226016.
ई-मेल sharadcoontee@gmail.com



गोपाल नारायण श्रीवास्तव

सामाजिक दायित्व के निर्वहन में समकालीन कविता की भूमिका पर विचार करने के पूर्व यह समझना आवश्यक प्रतीत होता है कि समकालीन कविता क्या है और सामाजिक दायत्वि क्या है। समकालीन कविता की कोई सार्वभौम परिभाषा नहीं है। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। किसी के अनुसार समकालीन कविता वह है जो पाठकों को यह बोध कराने में समर्थ हो कि वे किस माहौल में जी रहे हैं। डॉ यतीन्द्र तिवारी के शब्दों में समकालीन कविता समसामयिक समाज से उपजी आशाओं का बिम्ब है। वह एक अतिरिक्त यथार्थ और जीवन है जिसमें शाश्वत जीवन मूल्यों की मिठास और यथार्थ की कड़वाहट अर्थात दोनों की समरसता विद्यमान है इसीलिए इसमें काव्य का रसानन्द और जीवन सत्य की विभीषिकाओं से संघर्ष प्रेरणा दोनों मिलती हैं। कुछ के विचार से समकालीन कविता आदमी को आदमी बनाए रखने का संवेदनात्मक संवाद है और यह परम्परागत काव्यशास्त्रीय दायरों में बँधकर लिखी जाने वाली कविता नहीं है। कुछ विचारक इसे काल-खण्ड से जोड़ते है अर्थात विगत 30-40 वर्षों से जिस प्रकार की कविताएँ रची गई हैं और रची जा रही हैं वह समकालीन कविता है। हमारे स्कूल-कॉलेजों में भी समकालीन कविता के नाम पर यही साहित्य पढ़ाया जा रहा है। भविष्य में यह छात्र जब बूढे होंगे तब संभवतः कविता का स्वरूप काफी बदल चुका होगा और तब आज की समकालीन कविता शायद उस समय समकालीन न रह जाए। आज का वरिष्ठ कवि जो 50 या 60 की उम्र पार कर चुका है वह जब पलट कर अपने साहित्यिक जीवन को देखता है तो अपनी जवानी के तीस-चालीस वर्षों में जिन साहित्यकारों के साथ कदम-ताल मिलाकर एवं सामाजिक दायित्वों को समझकर कविता रचना की है, समग्र रुप में वही समकालीन कविता है और उस कविता का जो विचारात्मक एवं रचनात्मक वैशिष्ठ्य है, वही उसे परिभाषित भी करता है।

समकालीन कविता का कुछ स्वरूप समझ लेने के बाद अब प्रश्न यह है कि सामजिक दायित्व किसे कहते हैं। समाज हमें बहुत कुछ देता है पर हम समाज को क्या देते हैं इस प्रश्न पर संभवतः हम विचार नहीं करते। आम व्यक्ति इस संबंध मे प्रायः निर्विकार है क्योंकि उसका सारा समय अपने अस्तित्व की रक्षा के उपायों में ही खर्च हो जाता है और उसके पास ऐसी कोई विधा भी नहीं है जिससे वह समाज की कुछ सेवा करे सके। परन्तु कवियों के पास कलम का जो अस्त्र है, इतिहास गवाह है कि उसने बड़े-बड़े तलवारों के रंग भी फीके किए हैं। इस संबंध मे विद्वान प्रायः पाब्लो नेरूदा की कविता "कवि का दायित्व" का उल्लेख करते हैं इसमें सन्देह नहीं कि नेरूदा ने कवि दायित्वों का बड़ा सांकेतिक और संवेनशील वर्णन किया है किन्तु वह इत्यलम् नहीं है। काव्यात्मक और कलात्मक होने के कारण वह प्रायः सामान्य पाठक की पहुँच से दूर है। परन्तु उसे यहाँ उल्लिखित करना समीचीन प्रतीत होता है।

'जो शख्स नहीं सुन रहा है समन्दर की आवाज़
आज शुक्रवार की सुबह जो शख्स कैद है
घर या दफ्तर कारखाना या औरत के आगोश में
या सडक या खदान या बेरहम जेल के तहखाने में
आता हूँ मैं उसके करीब और बिना बोले बिना देखे
जाकर खोल देता हूँ काल कोठरी का दरवाजा
और शुरू होता है एक स्पंदन धुंधली और हठीली
बादलों की गड़गड़ाहट धीरे-धीरे पकड़ती है रफ़्तार
मिलती है धरती की धड़कन और समुद्री-झाग से
समुद्री झंझावात से उफनती नदियाँ
जगमग तारे अपने प्रभामंडल में
और टकराती टूटती सागर की लहरें लगातार
इसलिए जब मुकद्दर यहाँ खींच लायी है मुझे
तो सुनना होगा मुसलसल सागर का बिलखना
और सहेजना होगा पूरी तरह जागरूक हो कर
महसूसना होगा खारे पानी का टकराना और टूटना
और हिफाजत से जमा करना होगा एक मुस्तकिल प्याले में
ताकि जहाँ कहीं भी कैद में पड़े हों लोग
जहाँ कहीं भी भुगत रहे हों पतझड़ की प्रताड़ना
वहाँ एक आवारा लहर की तरह
पहुँच सकूँ खिड़कियों से होकर
और उम्मीद भरी निगाहें मेरी आवाज़ की ओर निहारें
यह कहते हुए कि हम सागर तक कैसे पहुँचेंगे
और बिना कुछ कहे मैं फैला दूँ उन तक
लहरों की सितारों जैसी अनुगूँज
हर हिलोर के साथ फेन और रेत का बिखरना
पीछे लौटते नामक की सरसराहट
तट पर समुद्र-पांखियों की सुरमई कूक
इस तरह पहुँचेंगे मेरे जरिए
टूटे हुए दिल तक आजादी और सागर'

नेरूदा की कविता में सामाजिक दायित्व का वही संदेश है जिसके अन्तर्गत हमारी भावनाएँ हर अत्याचार का विद्रोह करने के लिये उद्दत होती हैं। हमारे ये प्रयास पीड़ितों के लिए मरहम का काम करते हैं। दुनिया का दुख-दर्द कोई नया नहीं है। युग के अनुसार उसके स्वरूप बदलते रहते हैं। भगवान बुद्ध मानव की भौतिक पीड़ा के कारण ही विरक्त हुए। वृहदारण्यक के तापस कुमार रैक्व भी मानव की भौतिक पीड़ा से अभिभूत हुए परन्तु उन्हें वैराग्य नहीं हुआ अपितु उनहोंने अपना सारा जीवन लोगों के दुख निवारण एवं सेवा मे अर्पित कर दिया। सृष्टि के आदि से लेकर संभवतः आज तक यदि हम पुराख्यानों को प्रमाण मानें तो मनुष्य कभी रावण, कभी कंस तो कभी दुर्योधन के अत्याचारों से त्रस्त एवं दमित रहा है और प्रायः हर काल में देवों और मनुष्य के उद्धार की समस्या रही है। यह अवश्य है कि हर युग की अपनी अलग परिस्थिति और समस्याएँ होती हैं। आज से लगभग सात दशक पूर्व हमारी प्रमुख समस्या अंग्रेजों के अत्याचार से मुक्ति और देश को आजाद कराने की रही है। परन्तु अब समस्याओं का स्वरूप बदला है और समकालीन कविता का दायित्व वर्तमान समस्याओं के अनुक्रम में विचारणीय है।

काव्य विधा का संवाहक होने के कारण समकालीन कविता का दायित्व अन्य विधाओं की तुलना में सर्वोपरि है क्योंकि शब्दों के अग्निबाण हृदय

भेदने में सदैव समर्थ रहे हैं। इस नज़रिए से समकालीन कवि और कविता का प्रमुख सामाजिक दायित्व पाठकों को अपने समय की व्यवस्थाओं एवं अव्यवस्थाओं का सच्चा आईना दिखाना है। एक ऐसा आईना जो आपकी अनुभूतियों को झकझोर दे। कात्यायिनी की एक कविता इस संबंध मे प्रस्तुत है।

'घनी घटाएँ उस दिन मुख पर
छाईं थीं भोले मुख पर
आँखों में आँसू तैर रहे थे
बस्ता बिना उतारे
आकर खड़ा हो गया।
रोज की तरह झूला नहीं पकड़कर आँचल
"सजा मिली स्कूल में मुझे आज" और यह
कहते-कहते लुढ़क पड़े
आँखों से दो मोती गालों पर
"सजा मिली? की होगी तूने कोई गलती।"
"नहीं शोर मैं नहीं
दूसरे मचा रहे थे।
मैं तो चुप था
और सभी के साथ मुझे भी खड़ा कर दिया।"
बिना किसी गलती के
जीवन में कितना कुछ सहना पड़ता है कितनों को
अभी कहाँ यह उसने जाना
जानेगा भी धीरे-धीरे
सहज न्याय का बोध
अभी तक बना हुआ है
इसीलिए आहत है
दुख से भरा हुआ है।'

समकालीन कविता का एक सामाजिक दायित्व यह भी है कि वह आर्थिक विषमता के दंश, असमानता, विसंगति और विद्रूपता के सच्चे दर्द को शिद्दत से बयाँ करे। कविता में जितना ही अधिक नैतिक बोध होगा उसमें उतनी ही अधिक संप्रेषण शक्ति होगी। जो कवि समाज के नंगे विद्रूप रूप का चित्रण करने के हामी हैं, उनका चित्रण यदि भदेस भी हो तो भी वे अनैतिक मूल्यों का समर्थन नहीं करते। आज के समाज का वास्तविक दर्द है- भूख। दो वक्त की रोटी की समस्या। इस समस्या को गोविन्द द्विवेदी ने अपनी कविता में बखूबी उतारा है। कविता इस प्रकार है-

'मुझे कल्प वृक्ष नहीं चाहिए
नहीं चाहिए कामधेनु
इस पृथ्वी पर
जिन्दा रहने के लिए उतना ही अन्न चाहिए
जितना चींटी अपनी चोंच में
लेकर चलती है
उतनी ही जमीन
कि पसर सके लौकी की लहर
उतनी ही कपास की ढक जाए लान
स्मृतियों से कल्पना-लोक के
दरवाजे पर दस्तक देती एक सड़क
और नैतिक होने तक देती
शिक्षा किसी कुबेर का खजाना मुझे नहीं चाहिए
मुझे नहीं चाहिए मगरमच्छों से भरी
घी और दूध की शातिर नदी।'

व्यष्टिगत या समष्टिगत दोनों ही धरातलों पर मनुष्य उन तमान स्थितियों से गुजरता है जहाँ वह समाज की परम्परा, विकृति, विसंगति और अंधविश्वास के अँधेरे में किसी रोशनी की तलाश करता है। इस तलाश में वह आस्था, प्रेम, निष्ठा, सह-अस्तित्व ओर मानवीय मूल्यों को ढूँढता है। किन्तु इसमें एक टकराहट भी है। युग-सत्य, यथार्थ और परम्परागत संस्कृति मे बड़ा वैषम्य है। इस सामाजिक दायित्व को समझकर भी समकालीन कविताएँ रची जा रही हैं। इस सम्बन्ध में ओम प्रकाश वाल्मीकि की एक कविता प्रस्तुत है-

'यज्ञों में पशुओं की बलि चढ़ाना
किस संस्कृति का प्रतीक है?
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों।

चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों।'

मनुष्य की आदिम किन्तु सबसे सुकुमार, सुकोमल वृत्ति है प्रेम। प्रेम का स्वरूप बदला है। आज प्रेम-पत्र का जमाना नहीं है। मोबाइल पर सब कुछ सुलभ है और मोबाइल सबको सुलभ है। पिता ने शादी की बात कहीं चलाई, बात बनी या नहीं, परन्तु संभावित वर-वधू में फोनिक कनेक्शन प्रारम्भ हो गया। पहले जैसा वर्जनाओं से जकड़ा, हृदय को मथ डालने वाला "परकाजहि देहि को धारि फिरो, परजन्य जथारथ ह्वै बरसो" वाला घनानन्दी प्रेम अब कहाँ है। समय का क्रूर बदलाव एक प्रलय की तरह है जहाँ उस घनानन्दी प्रेम को बचाना एक समस्या है। इस सामाजिक दायित्व को बद्री नारायन ने अपनी कविता में बखूबी उतारा है। बानगी प्रस्तुत है-



'प्रेत आएगा
किताब से निकाल ले जाएगा प्रेम-पत्र
गिद्ध उसे पहाड़ पर नोच-नोच खाएगा
चोर आएगा तो प्रेम पत्र चुराएगा
जुआरी प्रेम पत्र पर दाँव लगाएगा
ऋषि आएँगे तो दान मे मांगेंगे प्रेम-पत्र
बारिश आएगी तो
प्रेम-पत्र को ही गलाएगी
आग आएगी तो जलाएगी प्रेम-पत्र
बंदिशें प्रेम-पत्र पर ही लगाई जायेंगीं
साँप आएगा तो डसेगा प्रेम-पत्र
झींगुर आएँगे तो चाटेंगे प्रेम-पत्र
कीड़े प्रेम-पत्र ही काटेंगे
प्रलय के दिनों में
सप्तर्षि, मछली और मनु
सब वेद बचायेंगे
कोई नही बचाएगा प्रेम-पत्र
कोई रोम बचाएगा
कोई मदीना
कोई चाँदी बचाएगा कोई सोना
मैं निपट अकेला
कैसे बचाऊँगा तुम्हारा पत्र'

सामाजिक दायित्व अनगिन हैं और उनके सम्यक निर्वाह में सरस्वती के शत-शत वरद पुत्र लगे हुए हैं। यह कहना आसान नहीं हैं कि समकालीन कविता सामाजिक दायित्व को पूर्णतः निभा पा रही है। सामाजिक जीवन के प्रायः हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार व्याप्त है और यह भ्रष्टाचार मानव जीवन को अन्दर ही अन्दर खोखला कर रहा है परन्तु इस दिशा में समकालीन कविता का योगदान आशा के अनुरुप प्रतीत नहीं होता। अधिकांश समकालीन कविता अतीत में जो कुछ हुआ उसके पोस्टर्माटम में लगी हुई है और इसे क्रान्तिकारी चिन्तन माना जाता है मानो अतीत में कुछ अच्छा हुआ ही नहीं। इतिहास इसीलिए नहीं है कि हम उसकी खामियों का अरण्यरोदन करें। इसके विपरीत हमें इतिहास के उन पहलुओं पर विचार करना चाहिए जो आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं। दूसरी ओर समकालीन कविता नितान्त व्यैक्तिक है। कवि अपनी स्वानुभूत पीड़ा को अपनी कविताओं में व्यक्त करता है। यह कविता कुछ-कुछ कवियों एवं साहित्यकारों की समझ में तो आती है परन्तु आम जनता का इस कविता से क्या सरोकार है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' घर से किसी मित्र के साथ निकले। पड़ोस में कुँए पर एक अनपढ़ स्नान कर रहा था और जोर से पाठ कर रहा था- 'सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।' हरिऔध जी ने मित्र से कहा 'यह होती है कविता। हम लोग क्या खाक कविता करते हैं। केवल अहम-तुष्टि करते हैं।' समकालीन कविता का भी यही दर्द है। इसी कारण कविता की पठनीयता कम हुई है। प्रकाशक प्रायः शिकायत करते हैं कि कविता की कोई मार्केट ही नहीं है। अधिकांश कवि स्वयं प्रकाशक बनकर अपनी रचनाएँ छापने हेतु विवश हैं। सर्जनाओं और वर्जनाओं के बीच एक विकट द्वन्द जारी है। यह कुछ-कुछ बालि-सुग्रीव के द्वन्द युद्ध जैसा है इसमें कवि को राम की भूमिका निभानी है। परन्तु इसमें कवि कमजोर पड़ रहा है। संसार में अभी न सत्य मरा है और न मनुष्य के भीतर का सात्विक प्यार। कविता की कमनीयता पर अवश्य आघात हुआ है। आज की कविता प्रायः बेतुकी और रिदमिक प्रोज की तरह हो गई है इसीलिए यदि महज कुंठा, हताषा, विसंगति, विद्रूप और संस्कृति की निर्मम आलोचना को ही विषय बनाकर अतुकान्त कविताएँ रची जाएँगी और हम नैतिक मूल्यों और शाश्वत सत्यों से सतत निरपेक्ष रहेंगे तो संभवतः कविता सम्पूर्ण नहीं होगी और न वह अपने सामाजिक दायित्वों का भरपूर निर्वाह करने मे समर्थ होगी तब शायद फिर किसी आचार्य को यह दुहराना पड़ेगा कि-

सुरम्य रूपे रस राषि रंजिते विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई?
अलौकिकानन्द विधायनी महा कवीन्द्रकान्ते कविते अहो कहाँ?



और पोटली मे बँधे हुये बूटो ने फेके है अंकुर
निर्जन घर मे जीवन की जड़ो को
पोसते रहे है ये अंकुर
खोलता हूँ खिड़की
और चारो ओर से दौड़ती है हवा
मानो इसी इन्तजार मे खड़ी थी पल्लों से सट के
पूरे घर को जल भरे तसले सा हिलाती
मुझसे बाहर मुझसे अनजान
जारी है जीवन की यात्रा अनवरत
बदल रहा है संसार

रूद्रावतार की एक कविता प्रस्तुत है -
मां षक्ति के अधर पर सुस्मिति छायी
संकल्प आपका उज्जवल है
यह निष्चय परम दिव्य पल है
रुद्रावतार की महत घड़ी आयी
मां षक्ति के अधर पर सुस्मिति छायी
युग-युग से इसकी सभी प्रतीक्षा मे
क्ब आप धरा पर उतरेगे
निर्बल के पल कब संवरेगे
सार्थक षिवत्व कब ? ब्रह्म परीक्षाये
युग-युग से इसकी सभी प्रतिक्षाये.........



संध्या सिंह

नरेश सक्सेना के बारे कुछ लिखने की कोशिश इस प्रकार है जैसे नन्हे पौधे बरगद के बारे में कुछ कहना चाहें या फिर नदियों से समंदर के बारे में पूछा जाए. वे ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने बहुत कम कविताओं में भी बहुत अधिक पाठक बटोरे. नरेश सक्सेना एक ऐसी शख्सियत हैं जो अपना आजीविका धर्म निबाहते हुए जीवन भर बंजर ज़मीन पर खड़े रहे और सीमेंट व कंक्रीट के ठोस धरातल पर खड़े-खड़े जाने कितनी कविताएँ लहलहा दीं अपनी नर्म मुलायम मन की मिट्टी पर .सिविल इंजीनीयरिंग जैसी शुष्क नौकरी इतने लम्बे समय तक करने के बाद भी इन्होंने कविता की नमी बचा कर रखी .यह उनकी एक ऐसी विशेषता है जो उन्हें अन्य कवियों से अलग करती है .

नरेश सक्सेना की कविता में जो रवानगी है, जो प्रवाह है, जो बहाव है वो मात्र सपाट गति नहीं वरन एक लय है जो पाठक की धड़कन की धक्-धक् के साथ ताल बिठा कर रफ़्तार पकडती है और उठती-गिरती साँसों के साथ फेफड़ों में समा जाती है, अंततः समूची कविता प्राणवायु बन कर लहू में बहने लगती है . उनकी कविताओं में पाठक के साथ एकरूप हो जाने की अद्भुत क्षमता है .

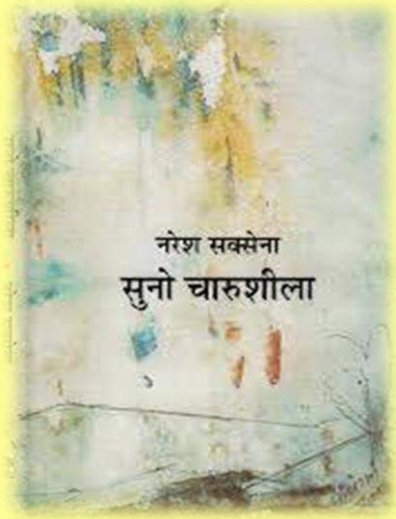
उनकी काव्यभूमि इतनी उर्वर है कि उनकी एक-एक कविता भावनात्मक धरातल पर वट वृक्ष की तरह खडी नज़र आती है .उनकी कविताओं में बेहद सरल दिखने वाले शब्द एक तिलिस्म तैयार कर देते हैं और न जाने किन-किन गुफाओं, कंदराओं और सरोवरों से ले कर यूँ गुजरते हैं कि पाठक जान ही नहीं पाता कि रास्ता कब समाप्त हुआ .सबसे बड़ी बात कि प्रत्येक कविता अंत में पाठक को स्तब्ध छोड़ देती है .जैसे 'रंग' में उनकी ये पंक्ति -आठ पंक्तियों की ये कविता जैसे धर्म निरपेक्षता का एक ग्रन्थ हो गयी .इसी तरह 'ईश्वर की औकात' कविता की आख़िरी पंक्ति -

"इस तरह वे ईश्वर को उनकी औकात बताते हैं"

ऐसी लगी जैसे आराम से पढ़ते-पढ़ते कोई खट से अचानक वार करके भाग गया हो. यह किसी भी रचना की सबसे बड़ी सफलता है. इसी क्रम में उनकी 'मुर्दे' कविता को पढ़ना आग से गुज़रना है. उस कविता का अंतिम भाग एक विस्फोट से कम नहीं. वहीं उनकी 'शिशु' कविता पलकों में नमी का एहसास करा जाती है-

"बाद में सीखेगा भाषा
अभी वह अर्थ समझता है"

इतनी अबोधता? यह कविता समस्त बुद्धिजीवियों के ऊपर एक करारा तमाचा है.



उनकी कविताओं की एक अलग आवृत्ति है. जब कविता नज़दीक आते-आते पाठक की आवृति से मेल खाती है तो बिजली-सी कौंधती है और फिर पाठक और कविता एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं. नरेश जी की कुछ कविताओं को तो समाप्त करते-करते मुझे लगा जैसे उस कविता और मेरे बीच और कोई भी नहीं और मैं उस कविता के साथ ही सोई-जागी, जैसे कि 'किले में बच्चे'. वह कविता मुझे अवाक छोड़ कर ख़त्म हो गई और मैं बाद तक जाने क्या-क्या ढूँढती रही उसमें. उनकी 'पीछे छूटी हुई चीजें' कविता को पढ़ते हुए लगा कि क्या कोई बिजली गड़गड़ाने और उसके चमकने के बीच यह सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है?' इस कविता का अंत कई बार आपको अचानक रात में चौंक कर उठने पर विवश कर सकता है.

'दरवाज़ा' कविता पढ़ते-पढ़ते समान्तर सोच साथ चली कि अनूठे भाव की ये दुनिया कैसे उपजी होगी भीतर?

चाहे 'सूर्य' की औलोकिक विकलांगता साबित करती कविता हो या 'अन्तरिक्ष से देखने पर' में धरती के दर्द का सूक्ष्म निरीक्षण या फिर 'घड़ियाँ' में हर घड़ी का हर वर्ग से अलग रिश्ता, इन सब कविताओं में एक बात मूलतः उभर कर आई कि ये रचनाएँ, रचनाएँ नहीं उनकी रगों में बहती मानवीय संवेदनाओं की एक पराकाष्ठा है.

उनकी कविता 'पानी क्या कर रहा है' एक अलग ही धरातल पर रची गई है| इस कविता में जहाँ एक ओर पानी के जमने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है वहीँ दूसरी ओर प्रकृति द्वारा पानी के भीतर तैरते जीवन को बचानें की एक जंग जो विज्ञान के नियम भी बदल देती है और चार डिग्री के बाद मछलियों के लिए एक रक्षा कवच बना देती है| अद्भुत तर्क और अनुपम सोच से उपजी यह कविता अंत में ठन्डे पानी में भी जिज्ञासा की एक आग लगा जाती है, जब नरेश लिखते हैं कि-



‘इससे पहले कि ठन्डे होते ही चले जाएँ
हम, चल कर देख लें
कि इस वक्त जब पड़ रही है कड़ाके की ठण्ड
तब मछलियों के संकट की इस घड़ी में
पानी क्या कर रहा है‘

और अंत में अंतिम पृष्ठ पर लिखी कविता की बात करें ‘परसाईं जी की बात‘ जिसमें उनके अंतिम शब्द जडवत अवस्था में छोड़ देते हैं पाठक को-

‘तो शक होने लगता है,
परसाई जी की बात पर, नहीं ---
अपनी कविताओं पर’
इसके आकस्मिक अंत पर बिलकुल निःशब्द हूँ |

नरेश सक्सेना की कविता-यात्रा सरलतम शब्दों की हरी-भरी पगडंडी है जिसमे सघन भाव के कठिन पड़ाव भी पाठक बिना दिमागी उठापटक के सीधे पार कर जाता है और कविता का अक्षर-अक्षर सीधा ह्रदय पर टंकित होता है | नरेश जी को अपने सरल शब्दों से भावों के सागर को तल तक नापना बखूबी आता है | जहाँ एक ओर कवि के रूप में नरेश जी पाठक के ऊपर अमिट छाप छोड़ते हैं वहीं व्यक्तिगत स्तर पर वे बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी हैं | विशिष्ट होते हुए भी सरल, सौम्य और साधारण दिखना उन्हें अतिविशिष्ट बनाता है | उम्र के छियत्तरवें वर्ष में भी सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ इतनी सक्रियता एक सुखद आश्चर्य से भर देती है |

अंत में यही कहूँगी कि नरेश जी के काव्य संग्रह ‘सुनो चारुशीला‘ के पहले पन्ने से आख़िरी पन्ने तक का सफ़र मेरे लिए कविता की एक अविस्मरणीय यात्रा है | सच कहूँ तो उनका सृजन वैज्ञानिक पृष्ठभूमि की ठोस चट्टान से निकला एक ऐसा मीठा झरना है जो सच्चे काव्य प्रेमी को बहा कर नहीं ले जाता वरन घूँट-घूँट तृप्त करना जानता है | सघन भावों के धागे में पिरोए उनके सरल शब्दों के मनके उनकी कविता को साहित्य जगत के लिए एक आकर्षक और अनमोल आभूषण बनाते हैं | यह कामना करती हूँ कि उनकी नई रचनाओं से रूबरू होती रहूँ |

संध्या सिंह







अलबेला खत्री

इससे पहले कि हर आदमी अपने हाथ में जूता ले ले, तुम लाईन पर आ जाओ

आम आदमी नहीं हूँ मैं

मैं आज अपना सीना ठोक के कहता हूँ कि मैं भारत गणतंत्र का नागरिक हूँ। नागरिक इसलिए हूँ क्योंकि नगर में रहता हूँ और सीना इसलिए ठोक रहा हूँ क्योंकि एक तो इससे वक्ता की बात में वजन आ जाता है, दूसरे सीना भी अपना है और ठोकने वाले भी अपन ही हैं इसलिए किसी दूसरे की आचार संहिता भंग होने का डर नहीं है। हालांकि मैं सीने के बजाय पीठ भी ठोक सकता हूँ, लेकिन ठोकूंगा नहीं, क्योंकि एक तो वहाँ तक मेरा हाथ ठीक से नहीं पहुँचता, दूसरे ज्यादा ठुकाई होने से पीठ में दर्द हो सकता है और तीसरे मैं एक कलाकार हूँ यार, कोई झाड़ूवाल टाइप नेता थोड़े न हूँ जो अपने ही हाथों अपनी पीठ ठोकता रहूँ।

सरकारी और गैर सरकारी सूत्र मुझे आम आदमी कह कर चिढ़ाते हैं जबकि मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि मैं कोई आम-वाम नहीं हूँ। आम क्या, आलू बुखारा भी नहीं हूँ। हाँ, चाहो तो आलू समझ सकते हो क्योंकि एक तो मैं जमीन से जुड़ा हुआ हूँ। दूसरे मेरी खाल इतनी पतली है कि कोई भी उधेड़ सकता है। तीसरे गरीब से गरीब और अमीर से अमीर, सभी मुझे एन्जॉय कर सकते हैं और चौथे हर मौसम में, हर हाल में सेवा के लिए मैं उपलब्ध रहता हूँ। न मुझे गर्मी मार सकती है न सर्दी, लेकिन मुझे आलू नहीं, आम कहा जाता है और इसलिए आम कहा जाता है ताकि मेरे रक्त को रस की तरह पिया जा सके। हालांकि ये रक्त पिपासु भी कोई बाहर वाले नहीं हैं, अपने ही हैं, बाहर वाले तो जितना पी सकते थे, पीकर पतली गली से निकल लिए। अब अपने वाले बचाखुचा सुड़कने में लगे हैं। मजे की बात ये है कि बाहर वाले तो कुछ छोड़ भी गए, अपने वाले पठ्ठे तो एक-एक बून्द निचोड़ लेने की जुगत में है।

कल रात एक भूतपूर्व सांसद से मुलाकात हो गई। हालांकि वे भूतपूर्व होना नहीं चाहते थे लेकिन होना पड़ा। मैंने पूछा, 'भूतनाथजी, ये नेता लोग जनता को आम जनता क्यों कहते हैं?' वो बोले, 'वैसे तो बहुत से कारण हैं लेकिन मोटा-मोटी यूँ समझो कि आम जो है, वो फलों का राजा है और हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता ही असली राजा होती है, शासक तो बेचारा सेवक होता है। दूसरा कारण ये है कि आम का सीजन, आम चुनाव की तरह कुछ ही दिन चलता है, बाकी समय तो बेचारा लापता ही रहता है, लेकिन तीसरा और सबसे खास कारण ये है कि आम स्वादिष्ट बहुत होता है। इसे खाने में मजा बहुत आता है, चाहे किसी प्रान्त का हो, किसी जात का हो, किसी रंग का हो अथवा किसी भी साइज का हो।

आम के आम और गुठलियों के दाम तो आपने सुना ही होगा। जनता को आम कहने का एक कारण ये भी है कि इसे खाने में कोई खतरा नहीं क्योंकि न तो इनमें कीड़े पड़ते है, न इसकी गुठली में कांटे होते हैं और न ही इनसे अजीर्ण होता है। अरे भाई, आम तो ऐसी चीज है कि लंगड़ा हो तो भी चलता है।' मैंने कहा, 'नेताजी आप एक बात तो बताना भूल ही गए कि आम हर उम्र में उपयोगी होता है।'
कच्चा हो तो अचार डालने के काम आता है, पका हुआ रसीला हो तो काट-काट के खाया जा सकता है और बूढ़ा, कमजोर व पिलपिला हो तो चूसने के काम आता है लेकिन सावधान विश्वासघाती नेताजी..अब आदमी को आम आम उसका रक्त पीना छोड़ दो, क्योंकि वो अब तुम्हारी कुटिलता को समझ गया है। जिस दिन कोई दबंग बन्दा राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए दिल्ली में आ जाएगा उस दिन आप जैसे स्वार्थी, मक्कार और दुष्ट नेताओं का राजनीतिक कार्यक्रम किरिया क्रम में बदल जाएगा। इसलिए सुधर जाओ, अब भी मौका है।

उसने मुझे खा जाने वाली नजरों से घूरा। मैंने कहा, 'घूरते क्या हो? समय बदल चुका है। जिस जनता को तुम पाँव की जूती समझते थे वो अब जूते चलाना सीख गई है। इससे पहले कि हर आदमी अपने हाथ में जूता ले ले, तुम लाईन पर आ जाओ वरना ऐसी ऑफ लाइन पर डाल दिए जाओगे जहाँ से आगे कोई रास्ता नहीं होगा आपके पास। नेताजी मेरी बातों से उखड़ गए और चलते बने। मैं भी अपने काम में व्यस्त हो गया, लेकिन मेरे मन में एक विजेता जैसी सन्तुष्टि है। मैंने सिद्ध कर दिया कि मैं कोई आम नहीं हूँ।

जय हिन्द !

अलबेला खत्री

Albelakhatri.com



संजय मिश्र 'हबीब'

संजय मिश्र 'हबीब' एक जिंदादिल इंसान थे. उनका असमय चले जाना हम सबको स्तब्ध कर गया. कुछ ही दिन पहले उन्होंने कह मुकरियाँ लिखी थीं। उनमें से एक कह मुकरी थी :

गोदी में सिर रख सो जाऊँ
कभी रात भर संग बतियाऊँ
रस्ता मेरा देखे दिन भर
क्या सखि साजन? ना सखि बिस्तर

बिस्तर की गोदी में सिर रख के सो जाने की उनकी बात असमय ही इस तरह साकार हो जाएगी, किसने सोचा था!

विनम्र श्रद्धांजलि के साथ प्रस्तुत हैं उनकी कुछ रचनाएँ!

चाबी

राजकुमार तोते को दबोच लाया और सबके सामने उसकी गर्दन मरोड़ दी... "तोते के साथ राक्षस भी मर गया" इस विश्वास के साथ प्रजा जय-जयकार करती हुई सहर्ष अपने अपने कामों में लग गई।

उधर दरबार में ठहाकों का दौर तारीं था... हंसी के बीच एक कद्दावर, आत्मविश्वास भरी गंभीर आवाज़ गूंजी... "युवराज! लोगों को पता ही नहीं चल पाया कि हमने अपनी 'जान' तोते में से निकाल कर अन्यत्र छुपा दी है... प्रजा की प्रतिक्रिया से प्रतीत होता है कि आपकी युक्ति काम आ गई... राक्षस के मारे जाने के उत्साह और उत्सव के बीच प्रजा अब स्वयं अपने हाथों से 'सत्तारानी' के कक्ष कि चाबी आपको सौंप कर जाएगी..."

राजकुमार के होंठों के साथ ही पूरे दरबार में एक आशावादी मुस्कुराहट नृत्य करने लगी।

अध्यादेश

शरीर पर बेदाग पोशाक, स्वच्छ जेकेट, सौम्य पगड़ी एवं चेहरे पर विवशता, झुंझलाहट, उदासी और आक्रोश के मिले जुले भाव लिए वे गाड़ी से उतरे... ससम्मान पुकारती अनेक आवाजों को अनसुना कर वे तेजी से समाधि स्थल की ओर बढ़ गए... फिर शायद कुछ सोच अचानक रुके, मुड़े और चेहरे पर स्थापित विभिन्न भावों की सत्ता के ऊपर मुस्कुराहट का आवरण डालने का लगभग सफल प्रयास करते हुये धीमे से बोले- "मैं जानता हूँ, जो आप पूछना चाहते हैं... देखिये, आप सबको, देश को यह समझना चाहिए... और समझना होगा कि 'गांधी' जी के पदचिह्नों पर, उनके दिखाये, बताए, सुझाए रास्तों पर चलना ही हमारी प्रथम प्राथमिकता एवं प्रतिबद्धता है..." कहकर वे मुड़े और तेजी से चलते हुये भीतर प्रवेश कर गए... शीघ्र ही वातावरण में 'गांधीजी' के प्रिय भजन की स्वरलहरियां तैरने लगीं.... "वैष्णव जन तो.... "

फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया

क्या पता अच्छा या बुरा लाया।
चैन दे, तिश्नगी उठा लाया।

जो कहो धोखा तो यही कह लो,
अश्क अजानिब के मैं चुरा लाया।

क्यूँ फिजायें धुआँ-धुआँ सी हैं,
याँ शरर कौन है छुपा लाया।

बाग में या के हों बियाबाँ में,
गुल हों महफूज ये दुआ लाया।

लूटा वादा उजालों का करके,
ये बता रोशनी कुजा लाया?

मेरा साया मुझी से कहता है,
अक्स ये कैसा बदनुमा लाया।

लो सलाम आखिरी कजा लायी,
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

हो मेहरबाँ 'हबीब' उसुर मुझपे,
इम्तहाँ रोज ही जुदा लाया।

संजय मिश्र 'हबीब'